न्यायाचार्य न्याय विशारद उपाध्यायश्री
यशोविजयजीकृत



हिन्दी विवेचना
मुनिश्री भद्रगुप्तविजयजी

प्रथम भाग

* प्रकाशक :

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन

* मानद मन्त्री : जयकुमार वी. परीख
महाराज की खिड़की
महेसाना (गुजरात)

* मानद मन्त्री : शान्तिलाल एन. दोशी
हारीज (गुजरात)

* मानद मन्त्री : हीराचन्द बैद
पारसमल कटारिया
आत्मानन्द जैन सभा भवन
घी वालों का रास्ता
जयपुर (राजस्थान)

* प्रकाशन-तिथि :

वि० सं० २०२५ ज्ञानपञ्चमी

* मूल्य : ३.५०

* मुद्रण स्थल :

अजन्ता प्रिण्टर्स
जयपुर (राजस्थान)

संस्कृत-ग्रन्थकार

न्यायाचार्य न्यायविशारद महोपाध्याय

श्री यशोविजयजी

[विक्रम की १८वी शताब्दि]

**

गुजराती-विवेचनकार

सिद्धान्त महोदधि स्व० आचार्यदेव

श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी के [illegible]

प्रभावक [illegible] पू० पन्यास

श्री भानुविजयजी गणी के शिष्यरत्न

मुनि श्री भद्रगुप्तविजयजी

[वि० स० २०१६]

**

हिन्दी-अनुवादकार

श्रीयुत् जसराज चौपडा

Civil Judge

[वि० स० २०२५]

**

प्रस्तावना [गागर में सागर]

श्रीयुत् हरिभाऊ उपाध्याय

**

ज्ञानसार परिचय

विक्रम की १७वीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में उदित होकर १८वीं शताब्दि के मध्यकालपर्यन्त तेजस्विता प्रसारित कर अस्त होने वाले सहस्त्रकिरण न्यायाचार्य न्यायविशारद महोपाध्याय श्री यशोविजयजी की यह कृति है 'ज्ञानसार'। योगीश्वर यशोविजयजी ने अपनी वृद्धावस्था में इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत-भाषा में की थी। यह ग्रन्थ समस्त मानव-जाति को परमानन्द का पथ-प्रदर्शन करा रहा है। ज्ञान-वैराग्य और अध्यात्म की एक अद्वितीय अखण्ड रसधारा इस ग्रन्थ के एक-एक श्लोक में बह रही है। जो कोई मनुष्य इस रसधारा में स्नान करेगा उसके तन-मन के क्लेश······· सन्ताप दूर होंगे और परम शान्ति······प्रसन्नता प्राप्त होगी।

इस संस्कृत-भाषा का प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थ हिन्दी-भाषा में भारतीय जनता के करकमलों में समर्पित करने का हमें सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। हिन्दी विवेचना के लेखक हैं मुनिप्रवर श्री भद्रगुप्तविजयजी।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से निर्विकार आत्मानन्द की अनुभूति हो यही कामना है।

प्रकाशकीय

ज्ञानमहोदधि उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी के जीवन-मन्थन मे से आविर्भूत हुआ यह ग्रन्थ 'ज्ञानसार' है। समग्र मानवजाति को परम सुख व परमशान्ति का सही मार्ग बतलाने वाला यह अद्वितीय ग्रन्थ है।

न्यायाचार्य श्रीमद् यशोविजयजी के विशाल साहित्य समुद्र-मे से यह ग्रन्थ तो एक बिन्दु समान है। दूसरे दृष्टि-कोण से सोचे तो यह ग्रन्थ बिन्दु समान होते हुए भी उसमे सिन्धु का समावेश हो गया है। 'बिन्दु मे सिन्धु' यह ज्ञानसार' ग्रन्थ हिन्दी भाषा मे प्रकाशित करने का सर्व-प्रथम सौभाग्य हमारी सस्था को प्राप्त हुआ है, इससे ज्यादा गौरव की बात और क्या हो सकती है ? हमे आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि श्रीमद् यशोविजयजी के सस्कृत-प्राकृत ग्रन्थ ज्यो ज्यो हिन्दी भाषा मे प्रकाशित होते जायेंगे हिन्दी-भाषी प्रजा को नैतिक-धार्मिक व आध्यात्मिक विकास की दिशा मे अपूर्व मार्गदर्शन मिलेगा, मोक्ष-मार्ग का सत्य ज्ञान प्राप्त होगा व कल्पनानिर्मित मिथ्यामतो की भ्रम-पूर्ण मान्यताओ से मुक्ति प्राप्त होगी।

आज से पाच वर्ष पूर्व 'ज्ञानसार' पर गुजराती भाषा मे विवेचना का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। सेठ मोतीशा चेरीटेबल एण्ड रिलीजियस ट्रस्ट (भायखला-बम्बई) की आर्थिक सहायता से हमारी सस्था ने ३ भाग प्रकाशित किए। अब चौथा भाग प्रकाशित होगा।

'ज्ञानसार' पर ऐसा सरल, सुबोध व आधुनिकशैली का गुजराती विवेचन इतने वर्षों में प्रथमबार ही पूज्य मुनिराज श्री भद्रगुप्तविजयजी म. सा. ने लिखा है। यह विवेचन गुजराती-भाषी जनता मे अत्यन्त प्रिय बन गया है।

राजस्थान मे भी गुजराती भाषा मे अध्ययन करने वाले कुछ जिज्ञासु सुशिक्षीत सज्जनो ने गुजराती विवेचन पढा, उनको ज्ञानप्रकाश प्राप्त हुआ। उन्होंने पूज्य महाराज सा. से प्रार्थना की कि 'यह विवेचन हिन्दी भाषा में प्रकाशित हो जाय तो महान् उपकार होगा।'

पूज्य महाराज सा. को यह बात पसंद आयी। उन्होंने हिन्दी अनुवाद का कार्य श्रीयुत जसराज सा. चौपड़ा (Civil Judge) को करने का अनुरोध किया। जज सा. ने पूज्य महाराज श्री की आज्ञा शिरोधार्य की और १ से १६ प्रकरणों का प्रथम भाग अनुवाद कर पूज्य श्री के करकमलो में समर्पित किया। श्रीयुत जसराजजी सा. ने स्वयं हिन्दी भाषी होते हुए भी गुजराती भाषा का अध्ययन कर जो सुचारु रूप से अनुवाद किया है, हम आपको धन्यवाद देते है।

ज्ञानसार-हिन्दी विवेचन का यह प्रथम भाग (१ से १६ प्रकरण) प्रकाशित हो रहा है। हिन्दी-अनुवाद की प्रेस-कापी का पूज्य महाराज श्री ने परिश्रम करके पूर्ण संशोधन किया है। श्रीयुत मदनलालजी खीवसरा (गोविन्द-गढ़-अजमेर) ने भी हिन्दी-अनुवाद को परिशुद्ध करने मे सहयोग दिया है। परिशिष्टो का अनुवाद श्रीयुत धनरूपमलजी नागौरी (जयपुर) ने किया है। हम उनके कृतज्ञ है।

पाच वर्ष मे २० किताब प्रकाशित करने की योजना के अन्तगत यह सर्वप्रथम ग्रथ हम प्रकाशित कर रहे है। पचवर्षीय योजना का स्वरूप आप सस्था से मगवाकर अवश्य पढें। दूसरी किताब 'वासना और भावना' इन दिनो मे ही प्रकाशित होगी। एक वर्ष मे तीन हिन्दी व एक अग्रेजी, इस प्रकार ४ किताबे प्रकाशित होगी। जो महानुभाव कम से कम रु० ३१ भेजकर इस योजना के सदस्य बनें हैं और बनेंगे, उनको २० किताबें भेंट मिलेंगी।

आपसे आग्रहपूर्ण विनति है कि आप इस योजना मे अपना सहयोग अवश्य प्रदान करें। पचवर्षीय योजना के सदस्य बनें।

ज्ञानसार-हिन्दी विवेचन का दूसरा भाग (१७ से ३२ प्रकरण) जब प्रकाशित होगा योजना के सदस्यो को सूचित किया जायगा।

इस हिन्दी-विवेचना से जनता को नैतिक-धार्मिक आध्यात्मिक उत्थान की प्रेरणा प्राप्त हो, ऐसी शुभ कामनाओ के साथ हमारा निवेदन पूर्ण करते हैं।

हिन्दी विभाग
श्री विश्वकल्याण प्रकाशन
आत्मानन्द जैन सभा भवन — मानद मत्री
घी वालो का रास्ता
जयपुर (राज०) दिनाक ५-११-६८

गागर में सागर

जैन-शास्त्रकार मानव जीवन को दो भागों में बाँटते हैं-एक 'श्रावक जीवन' दूसरा 'साधु जीवन'। श्रावक में गृहस्थादि का समावेश होता है और साधु में मुनि का। गृहस्थधर्म का निर्वहन करते हुए श्रावक किस प्रकार संयम के अभ्यास द्वारा मुनि" साधु की कोटि में आवे, इसका विस्तृत विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है और अन्त में 'मुनि' के कर्तव्य, आचार आदि पर भी पूरी तरह प्रकाश डाला गया है।

जैन-धर्म मुख्यत: संयमप्रधान धर्म है। प्रत्यक्ष जीवन-व्यवहार में भी संयम का और आगे चलकर "तप" का दर्शन जितना जैन-समाज में आज भी होता है, उतना दूसरे किसी समाज में प्राय: नहीं देखा जाता है। यही कारण है जो जैन-धर्म और जैन समाज आज भारत मे अक्षुण्ण चला आ रहा है। बौद्धधर्म में, तरह तरह से असंयम का प्रवेश होकर वह भारत मे लगभग लुप्त हो गया था। मानव-समाज में 'अहिंसा' के प्रसार का व प्रयोग का श्रेय भगवान महावीर के जैन-संघ को है। भले ही इसे सार्वजनिक बनाने का श्रेय महात्मा गांधी को मिला हो।

जैन-धर्म का मर्म समझने के लिये 'स्याद्वाद' और 'अहिंसा' को समझना जरूरी है। 'स्याद्वाद' को अनेकान्तवाद भी कहते हैं। इसका कहना है कि किसी वस्तु को, उसके सारे स्वरूप को, सांगोपांग समझने के लिए, कई

दृष्टियो मे, पहलुओ से, परखने की आवश्यकता है । इसी तरह 'अहिंसा' की आवश्यकता व्यक्तिगत जीवन में तो हुई है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से भी वह अनिवार्य ही है। 'अहिंसा' दूसरे जीव को उसकी सुरक्षा की गारन्टी देती है । इसके बिना समाज मे स्थिरता, शान्ति किसी प्रकार नही हो सकती । मैं नही समझता कि इन दोनो सिद्धान्तो की उपयोगिता मानने से कोई भी समझदार आदमी इकार करेगा ।

जैन साधु या मुनि के जीवन को एक ही वाक्य में बताया जाय तो सयम त्याग, स्वाध्याय तप और अन्त में कैवल्य-प्राप्ति ।' इन शब्दो के द्वारा बताया जा सकता है । जीवन के अन्तिम ध्येय के लिये भी जो कई अच्छे शब्द-मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, पूर्णता, कल्याण, मगल आदि मिलते हैं उनमें 'पूर्णता सबसे सुगम, सर्वग्राह्य है। प्रस्तुत-ग्रन्थ 'ज्ञान-सार' में 'पूर्णता' 'सच्चिदानन्दघन' 'परमात्मा' को जीवन का ध्येय मानकर उसकी सिद्धि के साधन-स्वरूप 'मग्नता' 'स्थिरता' से लेकर 'विवेक, मध्य-स्थता' तक १६ विषयो का सरल शैली मे विवेचन किया गया है।

मूल ग्रन्थ 'ज्ञान-सार' सस्कृत मे श्लोकबद्ध है । उसके रचयिता उपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज हैं । कोई ४०० वर्ष पूर्व इसकी रचना हुई थी । इसका गुजराती अनुवाद मुनि श्री भद्रगुप्तविजयजी द्वारा किया गया था। उसी का यह हिन्दी अनुवाद अब हिन्दी-भाषियो के लाभार्थ, प्रकाशित किया जा रहा है। मुनि श्री भद्रगुप्तविजयजी ने केवल मूल सस्कृत श्लोको का अनुवाद ही नही किया,

वल्कि अपनी तरफ से उनका स्पष्ट विवेचन करके मूल अर्थ को और भी विपद और सर्वसाधारण के समझ में आने योग्य वना दिया है। उपाध्याय मुनि श्री यशोविजयजी जैन-समाज मे सादर सुपरिचित है। उनकी आध्यात्मिक और साहित्यिक उपलब्धियां जैन-समाज में सुप्रतिष्ठित है। मुझे वहुत ही प्रसन्नता है, और हिन्दी-समाज को कृतज्ञ होना चाहिये कि ऐसे अनमोल ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद उनके हाथो में आ रहा है।

एक धर्म या पंथ के ग्रन्थ प्राय. उसी धर्म या पन्थ के अनुयायी ही पढते है और पाठ करते है। दूसरे धर्म वाले प्राय. उनसे दूर रहते है। यह कट्टरता अव दूर होती जा रही है। अन्त में तो सभी मूल-धर्मो के प्रस्थापक अपने अपने ढंग से 'सत्य' के शोधक रहे है। जिसकी समझ में या पहुच में जितना सत्य पूरा या उसका अंश आया उतना और वैसा उन्होंने सर्वसाधारण के सामने रखा है। जिस साधन-मार्ग से वे उस सत्य तक पहुचे वह भी उन्होंने जनता को वताया। इसमें 'सत्यशोधकों' की तत्कालीन परिस्थिति, योग्यता, दृढ़ता, चिन्तन, साधना…इत्यादि के भेद से विविधता आना स्वाभाविक था और है। यह विविधता गौण है, सत्य का अनुभव या ज्ञान मुख्य है। परन्तु हम साधारण लोग गौण पर अधिक वल देते है, इससे वही हम कुछ लोगो के लिए प्रधान वन जाता है। यही धार्मिक कट्टरता और आगे चलकर परमत-असहिष्णुता की जड़ हो जाती है। जैन-धर्म ने अपने 'अनेकान्त वाद' द्वारा इसे कम करने का प्रयास किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि आखिर साध्य साध्य है, और साधन साधन।

साधना-काल मे बेशक साधन का बड़ा महत्व है, किन्तु यह न भूलना चाहिए कि हमे उसके द्वारा अपना साध्य प्राप्त करना है सिद्धि की उपलब्धि करना है।

इसी दृष्टि मे विभिन्न धर्मों के मूल और महत्वपूर्ण ग्रन्थो का विभिन्न भाषाओ मे अनुवाद तथा विभिन्न धर्मियो मे उनका प्रवेश, पठन-पाठन, प्रचार, परम आवश्यक है। क्योंकि 'सत्य" अन्त मे एक है, अनेक नही हो सकता, उसके अश अन्तत अगणित हो सकते हैं। अत हमारी मूल दृष्टि उसी सत्य पर रहनी चाहिए। सम्भवत इसी भावना से प्रेरित होकर इस महान् ग्रन्थ की भूमिका लिखने का काम मुझ जैसे अल्पज्ञ और अजैन से लिया गया है, जिसके लिये मुझे श्री दोशीजी का कृतज्ञ होना चाहिए। जैन-धर्म के दोनो महान् सिद्धान्त "अनेकान्त" या स्याद्वाद और 'अहिंसा' मे मेरी पूर्ण आस्था है।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज द्वारा अपने जीवन काल मे लगभग १०८ 'न्याय' के ग्रन्थो का सृजन किया गया और उनमे 'ज्ञानसार' उनकी अन्तिम रचना है, जो सूचित करती है कि इसमे उन्होंने अपने सारे प्राप्त ज्ञान और उपलब्धियों का प्रसाद जनता को दे दिया है। मूल ग्रथ मे ३२ अध्याय है, जिनमे प्रथम अध्याय पूर्णता के सबध मे, तथा ३१ अध्याय आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करने के मार्गस्वरूप हैं। इसमे ज्ञान, वैराग्य और अध्यात्म की अखड धारा बह रही है। मुनिश्री भद्रगुप्तविजयजी के शब्दो मे 'इस ग्रन्थ का बारम्बार स्वाध्याय करने वाला मनुष्य निर्विकार आत्मानन्द का अनुभव करेगा' यह निर्विवाद है। यह कृति "ज्ञानसार" को उपाध्याय श्री के जीवन-मन्थन का सार ही कहना चाहिए।

उन्होंने इस ग्रन्थगागर मे अपने अनुभवो का सागर भर दिया है, इसमें कोई संदेह नही। साथ ही इस गागर में सागर' में अवगाहन करने का मार्ग, मुनि श्री भद्रगुप्तविजयजी ने अपने विवेचन के द्वारा वहुत सुगम वना दिया है। अतः पाठको को इन मुनि-द्वय का वहुत कृतज्ञ होना चाहिए। और हिन्दी पाठको को श्री दोशी जी का भी, जिनके प्रयास से यह हिन्दी ग्रन्थ तैयार हो पाया है।

मुझे आशा है, कि हिन्दी के सर्वधर्मसमभावी पाठक इससे अवश्य लाभ उठावेगे। भारत की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता तथा पुष्टि के लिए ऐसे सत्प्रयासो का सदैव स्वागत होना चाहिए।

दीपावली-वीरनिर्वाण हरिभाऊ उपाध्याय
गान्धी आश्रम
हटूण्डी (अजमेर)

श्रीमद् यशोविजयजी

भारतीय सस्कृति हमेशा धर्मप्रधान सस्कृति रही है। चूकि धर्म मे ही जीवमात्र का कल्याण हो सकता है। धर्म मे ही मनुष्य को शान्ति व प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। धर्म के माध्यम से ही मनुष्य को वास्तविक सुखी बनाया जा सकता है। जीवों की कक्षा के अनुसार धर्म का पालन भिन्न भिन्न होता है। सब जीवों के लिए एक ही धर्माचरण नही होता है।

ससार के जीवों को धर्ममार्ग बताने का कार्य पवित्र जीवन जीने वाले साधुपुरुष करते आये हैं और करते रहे हैं। साधुपुरुष स्वजीवन मे उच्चतम धर्म का पालन करते हैं और ससार को धर्म का मार्ग बताते हैं, यह है साधु पुरुषों की विश्वसेवा।

धर्म का उपदेश देना और धर्मग्रन्थों का निर्माण करना–यह है साधुजीवन की मुख्य प्रवृत्ति। इस प्रवृत्ति के अलावा साधुपुरुष अपनी आत्मविशुद्धि के लिए ज्ञान-ध्यान योगसाधना वगैरह मे निरत रहते हैं। हिंसा-झूठ-चोरी-दुराचार-परिग्रह के पापों से वे सर्वथा निवृत्त होते हैं। बिना पाप किए भी मनुष्य जीवन जी सकता है, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं हमारे भारत के एकमात्र जैन मुनि।

भगवान महावीरस्वामी के धर्मशासन मे निरन्तर ऐसे साधुपुरुष होते आये हैं और स्व-आत्मकल्याण के साथ

संसार के जीवो को परमसुख व परमशान्ति का पथ-प्रदर्शन करते आये है । ऐसे ही एक पवित्रतम साधुपुरुष विक्रम की १७वी शताब्दि मे हो गए । वे पुण्यनामधेय थे श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय ।

१७वी शताब्दि के ही एक ग्रन्थ 'सुजसवेली भास' में श्रीमद् यशोविजयजी का यथार्थ जीवन वृत्तान्त सक्षेप में प्राप्त होता है । हालाकि उनके विषय मे बहुत सी लोक-कथाएँ और किवदन्तियाँ लोकजिह्वा पर प्रचलित हैं किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से 'सुजसवेली भास' ही प्रामाणिक मानना चाहिए ।

गुजरात की धरती पर उत्तर मे 'कनोडा' गाव आज भी है । वहा नारायण शेठ और सौभाग्यदेवी सेठानी वसते थे । पति-पत्नी सदाचारी व धर्मनिष्ठ थे । उनको दो पुत्र थे । बड़े का नाम था 'जसवत' और छोटे का नाम था पद्मसिंह ।

जसवत की बुद्धि सूक्ष्म थी । बालक होने पर भी उसमे महान् गुण दिखाई पडते थे । वि. स. १६८८ मे उस काल के प्रखर विद्वान् मुनिराज श्री नयविजयजी पद-विहार करते-करते कनोडा पधार गये । कनोड़ा की जनता श्री नयविजयजी का वैराग्यपूर्ण उपदेश सुन कर मुग्ध हो गई । उपदेश सुनने नारायण शेठ का परिवार भी गया था । उपदेश तो सबने सुना परन्तु उपदेश का असर जो जसवंत पर हुआ, और किसी पर नही हुआ । जसवंत की आत्मा मे जन्म-जन्मांतर के त्याग-वैराग्य के संस्कार जाग्रत हो गए । उसने संसार छोडकर साधुजीवन जीने

की भावना अपने माता-पिता के सामने रक्खी। श्री नय-विजयजी ने भी जसवंत की बुद्धि प्रतिभा और गुणमय जीवन देखा, उन्होंने नारायण शेठ व सौभाग्यदेवी को कहा—'पुण्यशाली! आप धन्य हो कि आपको ऐसा पुत्ररत्न प्राप्त हुआ है। एक बार ही धर्म का उपदेश सुन कर जसवंत वैरागी बना है। जसवंत भले आज बच्चा है लेकिन उसकी आत्मा बच्चा नहीं है। आत्मा महान् है। यदि आप पुत्रस्नेह को संयमित कर जसवन्त को चारित्र मार्ग पर चलने की अनुज्ञा प्रदान करें तो जसवंत भविष्य में भारत की भव्य विभूति बन सकती है और हजारों लाखों मनुष्यों का उद्धारक बन सकता है। कहिए, आप का हृदय क्या चाहता है?'

नारायण व सौभाग्यदेवी की आंखों में आंसू भर आये। आंसू थे हर्ष के, आंसू थे पुत्रविरह की व्यथा के। 'पुत्र त्याग के पथ पर चलकर स्व-पर आत्मा का महान् कल्याण करेगा, परमात्मा महावीरदेव के शासन को उज्वल करेगा' इस कल्पना से माता पिता हर्षान्वित बने। साथ ही 'विनयी प्रसन्नमुख और सुकुमाल पुत्र घर छोड़ कर, माता-पिता व स्नेही-स्वजनों को छोड़कर चला जायगा?' इस कल्पना से वे शोकाकुल बन गये।

गुरुदेव श्री नयविजयजी ने वहां से विहार किया। चातुर्मास के लिए पाटण पधारे।

कनोडा में जसवंत व्याकुल था। उसका मन गुरुदेव का सानिध्य चाहता था। खाने पीने से खेलने में उसका मन उठ गया। उसकी आंखों से आंसू भर भर आने लगे

सुकोमल जसवत की तीव्र वैराग्यभावना ने माता-पिता के हृदय को परिवर्तित कर दिया। माता-पिता जसवत को लेकर पाटण पहुचे।

पाटण मे जसवंत की दीक्षा हुई।

जसवत श्रीमद् यशोविजयजी वने।

वड़े भाई का अनुसरण किया छोटे भाई ने! पद्मसिंह ने भी संसार का त्याग किया, वे वन गये पद्मविजयजी। यशोविजयजी व पद्मविजयजी की अच्छी जोड़ वन गई।

चारित्र के पश्चात् दोनो भाई ज्ञानार्जन में लीन हो गए। दिन व रात श्रुताभ्यास! वि. स. १६६९ में अहमदावाद पधारे, वहां उन्होंने जनता को अपूर्व स्मरणशक्ति का परिचय कराने वाले अवधान-प्रयोग करके वताए। यशोविजयजी की यशोज्वल प्रतिभा को देखकर अहमदावाद के श्रेष्ठिरत्न धनजी सूरा अति प्रभावित हुए। वे आये गुरुदेव श्री नयविजयजी के पास। वंदना कर उन्होंने कहा:

'गुरुदेव, मै एक प्रार्थना करने आया हूँ।'

'कहिए, क्या वात है?'

'गुरुदेव, श्री यशोविजयजी ज्ञान के अत्युत्तम पात्र हैं। दूसरे हेमचन्द्र सूरि वन सकते हैं। आप उन्हे काशी भेजे, वहां षड्दर्शन का अध्ययन करे।'

गुरुदेव मौन रहे। उनके मुख पर गभीरता छा गई। धनजी सूरा कुछ समझ नही पाए। उन्होंने पूछा:

'क्यों मेरी वात से ·· दुःख हुआ गुरुदेव?'

'नही दुख की बात नही है, मैं भी चाहता हू कि यशोविजयजी काशी जाकर अध्ययन करें लेकिन

'लेकिन क्या गुरुदेव ?'

'वहा के भट्टाचार्य बिना पैसा नही पढाता है '

धनजी सूरा गुरुदेव की गभीरता का रहस्य समझ गये। उन्होंने कहा—

'गुरुदेव, काशी मे यशोविजयजी के अध्ययन का जो भी खर्च होगा, उसका लाभ मुझे देने की कृपा कीजिए।'

श्रीमद् यशोविजयजी ने काशी जाकर षड्दर्शन के अखड ज्ञाता प्रकाड विद्वान् भट्टाचार्य के पास अध्ययन प्रारम्भ किया। भट्टाचार्य के पास ७०० शिष्य मीमांसा आदि दर्शनो का अध्ययन करते थे। यशोविजयजी ने शिघ्र गति से अध्ययन करते हुए न्याय, मीमांसा, बौद्ध, जैमिनी वैशेषिक आदि दर्शनो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया। 'चिन्तामणि' जैसे न्याय ग्रन्थो का भी अवगाहन कर लिया। काशी के मूर्धन्य विद्वानो की श्रेणी मे यशोविजयजी गिने जाने लगे। यशोविजयजी ने इस अध्ययन के साथ जैनदर्शन के सिद्धातो का भी परिशीलन कर समन्वयात्मक अध्ययन किया।

वह जमाना था वाद-विवाद का। एक महान् सन्यासी बडे आडंबर के साथ काशी आया था। उसने काशी के विद्वानो को चुनौति दे दी। कोई विद्वान् उस सन्यासी की चुनौती का जवाब देने को उत्साहित नही हुआ। वहा श्रीमद् यशोविजयजी ने सन्यासी को ललकारा। वाद प्रारम्भ

हुआ। यशोविजयजी ने सन्यासी को पराजित कर काशी की विद्वत्सभा को विस्मित कर दिया" जनता ने बाजेगाजे के साथ यशोविजयजी का जुलूस निकाला, विद्वानो ने और आम जनता ने यशोविजयजी का अभूतपूर्व सत्कार किया। इस प्रसग पर उनको 'न्यायविशारद' की गौरवपूर्ण उपाधि प्रदान की गई। ब्राह्मणों ने किसी जैनमुनि का स्वागत किया हो, गौरव प्रदान किया हो और उच्चतम उपाधि प्रदान कर जय पुकारी हो • तो यह प्रथम ही प्रसग था।

काशी मे तीन वर्ष बिताये।

वहा से पधारे आगरा। आगरा मे उस समय एक प्रौढ न्यायाचार्य थे। यशोविजयजी ने ४ वर्ष उन न्यायाचार्य के पास न्याय-तर्क का अध्ययन किया। दुर्दम्य वादी बन गए।

वहा से पधारे अहमदाबाद।

काशी की कीर्तिश्री यशोविजयी के पीछे पीछे भटकती अहमदाबाद की गलियो मे आ गई। अहमदाबाद के अनेक विद्वान् भट्ट, वादी याचक-भोजक"सब यशोविजयजी का दर्शन कर धन्यता अनुभव करने लगे।

नागोरी धर्मशाला यशोविजयजी के पधारने से एक जगमतीर्थ भूमि बन गई थी। गुजरात का मुगल सूबा महोबत खान भी यशोविजयजी की प्रशसा सुनकर दर्शन को आया। खान की प्रार्थना से यशोविजयजी ने १८ अद्भुत अवधान प्रयोग किए। खान की खुशी बेहद बढ गई। जिनशासन

का जय-जयकार हो गया । यशोविजयजी के समकालीन श्री कान्तिविजयजी लिखते हैं

जिनशासन उन्नति त्या थईजो वाधी तपगच्छ शोभ,
गच्छ चोराशी में महु रहे जी ए पण्डित अक्षोभ।'
—सुजसवेली भास

उस समय तपगच्छाधिपति थे आचार्य श्री विजयदेव-सूरि। संघ ने आचार्य श्री से विनति की

'आचार्य देव, बहुश्रुत ऐसे यशोविजयजी को उपाध्याय पद प्रदान करने की कृपा करें।'

आचार्यश्री ने अपनी सम्मति प्रदान की। यशोविजयजी ने 'बीसस्थानक' तप की आराधना कर शुद्ध संवेग के साथ संयम की शुद्धि को बढ़ाया। वि. सं. १७१८ में श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय-पद से अलंकृत बने। 'लघुहरिभद्र' के नाम से वे प्रसिद्ध बने।

वि. सं. १७४३ का चातुर्मास डभोई (गुजरात) में किया। अनशन कर देवगति प्राप्त की।

आज भी डभोई में श्रीमद् यशोविजयजी की स्वर्गवास-भूमि पर स्तूप बना हुआ है। स्वर्गवास का दिन जब आता था वहा से न्याय की ध्वनि प्रकट होती थी।

यह तो है श्रीमद् यशोविजयजी का संक्षिप्त जीवन परिचय। अब हम देखें इनकी अखंड उज्ज्वल श्रुतोपासना।

श्रीमद् [illegible] चार भाषाओं में साहि[illegible]
किया है। [illegible] राती और मारवाडी।

योग, अध्यात्म, दर्शन, धर्म, नीति, इत्यादि विषयो पर उनकी लेखिनी तीव्र गति से चली है। उन्होने जैसे कठिन दार्शनिक व सैद्धातिक ग्रन्थो की रचना की है वैसे ही कथा साहित्य की भी रचना की है। उन्होने जैसे मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया है वैसे प्राचीन संस्कृत-प्राकृत भाषा के ग्र थो पर टीकाओ की रचना भी की है। गद्य भी लिखा है, पद्य भी लिखा है।

महत्वपूर्ण बात तो यह है कि यशोविजयजी ने जैसे जैन ग्रन्थो का गहन अध्ययन किया था वैसे अन्य धर्मो के ग्र थो का भी तलस्पर्शी अध्ययन किया था। उनके ग्र थों मे एक असाधारण विशेषता यह है कि उनमे तर्क और सिद्धान्त की समतुला अखड रही है। स्वसप्रदाय या परसप्रदाय, जिसमे उनको सिद्धान्तविसवाद और तर्कहीनता प्रतीत हुई, उन्होने निष्पक्ष होकर खंडन किया है। ऐसे खडनात्मक ग्र थो में 'अध्यात्ममत परीक्षा', 'दिक्पट ८४ बोल', 'देवधर्मपरीक्षा', 'प्रतिमाशतक', 'महावीरस्तवन' इत्यादि मुख्य है।

जैनन्यायशैली के अद्भुत ग्र थो मे जैनतर्कभाषा, नयप्रदीप, नय रहस्य, नयामृत तरंगिणी, नयोपदेश, स्वाद्वाद-कल्पलता, न्यायालोक, खडन-खण्ड खाद्य, अष्टसहस्त्री टीका प्रमुख है। इन ग्र थों की रचना कर यशोविजयजी ने उदयनाचार्य, गगेश उपाध्याय, रघुनाथ शिरोमणि एव जगदीश की प्रतिभा का जैन न्याय-साहित्य को नैवेद्य चढाया है।

अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, ज्ञानसार जैसे योग विषयक ग्रन्थो का सर्जन कर गीता, योगवाशिष्ट आदि ग्र थों के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया। 'योग' पर बत्तीस बत्तीसियां की

रचना की। हरिभद्रसूरिजी-रचित 'योगविंशिका' एवं 'षोडषक' पर टीकाओं की रचना की। पातंजल योगदर्शन पर छोटी सी टीका बनाकर योगसूत्रों की त्रुटि का समार्जन किया।

श्रीमद् यशोविजयजी के सब ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हो रहे। जो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं और मुद्रित हुए हैं ऐसे ग्रंथ ५० से ज्यादा नहीं है। मुद्रित ग्रंथों की सूची निम्न है

१ अध्यात्मसार
२ देवधर्मपरीक्षा
३ अध्यात्मोपनिषद्
४ आध्यात्मिक मतखंडन
५ यतिलक्षणसमुच्चय
६ ज्ञानसार
७ नयरहस्य
८ नयप्रदीप
९ नयोपदेश
१०, जैनतर्क परिभाषा
११ ज्ञानबिन्दु
१२ द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका
१३ कर्मप्रकृति-टीका
१४ अस्पृशद् गतिवाद
१५ गुरुतत्त्वविनिश्चय
१६ सामाचारी प्रकरण
१७ आराधक विराधक-चतुर्भंगी
१८ न्यायामृत तरंगिणी
१९ प्रतिमाशतक
२० पातंजल योगसूत्र-वृत्ति
२१ योगविंशिका
२२ अध्यात्म मत-परीक्षा
२३ स्याद्वादकल्पलता
२४ षोडशक-टीका
२५ उपदेश रहस्य
२६ न्यायालोक
२७ न्यायखंडनखाद्य
२८ भाषारहस्य
२९ तत्त्वार्थवृत्ति (१ अध्याय वृत्ति)
३० वैराग्य कल्पलता
३१ धर्मपरीक्षा
३२ चतुर्विंशति जिन स्तुति
३३ परमज्योति-पंचविंशतिका
३४ प्रतिमास्थापनन्याय
३५ प्रतिमाशतक
३६ मार्ग परिशुद्धि

ये ग्रन्थ है संस्कृत एवं प्राकृत भाषा मे। इन ग्रन्थो मे से कुछ ग्रन्थो का गुजराती भाषा में भाषान्तर हुआ है। हिन्दी भाषा में कोई ग्रन्थ का अनुवाद हुआ हो तो ज्ञात नहीं है। यदि इस महापुरुष के इन ग्रन्थों का हिन्दी भाषा मे अवतरण किया जाय तो एक अत्युत्तम कार्य होगा। इससे हमारी जैन संस्कृति यथार्थ रूप से विश्व के सामने आयेगी।

इतने महान् ज्ञानी पुरुष होते हुए भी श्रीमद् यशोविजयजी अपने परमोपकारी गुरुदेव के प्रति कितने विनम्र थे।

माहरे तो गुरुचरण पसाये अनुभव दिल मांहि पेठो।
ऋद्धि-वृद्धि प्रगटी घटमांही आतमरति हुई बेठो रे॥
मुज साहिब जगनो तूठो .. ....

—श्रीपालरास

श्रीमद् यशोविजयजी को उनके समकालीन विद्वानो ने 'कलिकाल-केवली' कहे है। ऐसे महान् श्रुतधर महर्षि को भावपूर्ण वदना कर, उन्होंने बहाई हुई ज्ञानगंगा में स्नान कर निर्मल बने, पवित्र बने .जीवन सफल करें।

आत्मानन्द जैन सभा भवन
जयपुर (राजस्थान)
५-११-६८

भद्रगुप्तविजय

नैतिक–धार्मिक–आध्यात्मिक हिन्दी साहित्य प्रकाशन की

पंचवर्षीय योजना के सदस्यो की सूची

[वि० सं० २०२४, मागसर वदी १ तक के]

आजीवन सदस्य

(१) श्रीयुत् सपतलालजी बुकड, सोलापुर
(२) भेरूबाग जैनतीर्थ पेढी, जोधपुर

पंचवर्षीय सदस्य (जयपुर)

(१) बुद्धसिंहजी बैद
(२) भंवरलालजी बाफना
(३) पदमचन्दजी हंसराजजी
(४) राजमलजी सिंघी
(५) सुधारचन्दजी धीरजलालजी पारख
(६) उदयचन्दजी महता
(७) डाह्याभाई अमृतलाल एण्ड कं०
(८) सागरचन्दजी सतीशचन्दजी
(९) तेजराजजी सिंघी
(१०) कन्हैयालालजी दुगला
(११) गोपीचन्दजी मुलतानगाने
(१२) टोडरमलजी नहार
(१३) अभयमलजी सिंघी
(१४) धनलमलजी चमनाजी
(१५) भंवरलालजी श्रीमाल
(१६) मोहनसिंहजी [illegible]

(१७) मागीलालजी भसाली
(१८) प्रेमबाई मुणोत
(१९) सागरचन्दजी पजाबी
(२०) सन्तोषचन्दजी सोभागमलजी
(२१) लाडबाई मेसवाल
(२२) जतनमलजी लूणावत
(२३) मोतीचन्दजी चोरड़िया
(२४) निरजनचन्दजी भण्डारी
(२५) भमरलालजी मोतीलालजी मेहता
(२६) पदमचन्दजी कमलचन्दजी जड़िया
(२७) फूलचन्दजी अमरचन्दजी सचेती
(२८) चन्द्रकला शाह
(२९) रतनदेवी वैद
(३०) सुनीलकुमार अनिलकुमार बाफना
(३१) हुकमीचन्दजी नहार
(३२) गुलाबचन्दजी टुकलिया
(३३) कनैयालालजी टाक
(३४) फत्तेचन्दजी हरखचन्दजी लोढ़ा
(३५) शान्तिलाल एण्ड ब्रदर्स
(३६) कुशलचन्दजी सिघी
(३७) अमरचन्दजी नहार

अन्य गांवों के सदस्य

(३८) गौतमचन्द मोतीलाल, पाली
(३९) गोरधनचन्दजी महावीरचन्दजी भण्डारी, जोधपुर
(४०) हस्तीमलजी गोलेच्छा, जोधपुर
(४१) रतिलाल मोहनलाल, सुजपुर (गुजरात)

अनुक्रम

परिशिष्ट

શ્રીરંગીલ

पूर्णता

ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन लीलालग्नमिवाखिलम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णेन पूर्णं जगदवेक्ष्यते ॥१॥

जिस प्रकार सुखी जीव सभी को सुखी जानता है वैसे ही पूर्ण आत्मा सभी को पूर्ण समझती है। सच्चिदानन्द आत्मा विश्व के समग्र जीवों में सत्-चित् एवं आनन्द की पूर्णता का ही दर्शन करती है। अतः यह सत्य एवं वास्तविक प्रतिपादन गुण की परिबोध करने के लिए पुरुषार्थ करने वाली आत्मा को दो महत्त्व की बातें समझाता है

(१) साधक चेतन सृष्टि में 'सत्-चित्-आनन्द' की पूर्णता के दर्शन करने के लिए दृष्टा को सत्-चित्-आनन्द की पूर्णता प्राप्त करनी चाहिए।

(२) समग्र चेतन-सृष्टि में यदि सम्यग्दर्शन का प्रश्न आता है तो चेतन सृष्टि में पूर्णता के दर्शन करने का पुरुषार्थ प्रारम्भ कर देना चाहिए।

जब तक जीवात्मा अपूर्ण है तब तक वह समग्र विश्व की चेतन सृष्टि में पूर्णता का दर्शन नहीं कर सकती। परन्तु इस दिशा में पुरुषार्थ प्रारम्भ कर सकता है। अर्थात् पूर्णता के दर्शन का प्रारम्भ तो अब भी कर सकता है। पूर्णता के अंश का [illegible] [illegible]

अपने को दिखने लग जाते है। गुणदृष्टि के बगैर गुण दृष्टिगोचर नही हो सकते। स्वर्ग के ऐश्वर्य में मस्त हुए देवेन्द्र जैसे सकल विश्व को सुख मे सराबोर हुआ समझते है वैसे ही गुण-दृष्टि वाली आत्मा सकल विश्व को गुणमय समझती है।

ज्यों-ज्यो गुण-दृष्टि का विकास होता है त्यो-त्यो राग-दृष्टि एवं द्वेप-दृष्टि क्षीण होती जाती है, और उसमे राग-दृष्टि और द्वेप-दृष्टि से उत्पन्न अशांति, क्लेश, संताप नष्ट-प्रायः होते जाते है और गुण-दृष्टि मे से शांति, स्वस्थता, एवं प्रसन्नता का आविर्भाव होता है।

पूर्णता या परोपाधेः सा याचितकमण्डनम् ।
या तु स्वाभाविकी सैव जात्यरत्नविभानिभा ॥२॥

आपके घर विवाह का प्रसंग उपस्थित हुआ। आपके पास आभूपण एवं अलंकार नही है। तब तुम अपने स्नेही एवं संबंधियो से अलंकार ले आये, अलंकार तुम्हारे घर मे आ गये और उससे तुमने अपने शरीर की सजावट भी करली।

कहो तो भाई, तुम्हारी यह शोभा कैसी है ? क्या तुम्हे ऐसी शोभा पर प्रसन्नता होगी ? क्या तुम्हारा हृदय इसमें आनन्द मानेगा ? तुम्हारे हृदय मे "यह अलंकार तो अल्पकाल के लिए है और ज्योही विवाह का कार्य सम्पन्न होगा उन्हे वापस लौटाना है"। यह विचार सदैव रहेगा। इस तरह मांग कर या किराये पर लाये हुए अलंकारो पर "मै श्रीमंत हूं" ऐसी प्रसन्नता नहीं हो सकती है।

कर्म के उदय से मिला हुआ धन, धान्य, यश, कीर्ति, रूप-कला, एवं शाता वगैरह ऋद्धि समृद्धि भी इसी प्रकार

की है। यह सभी अल्पकाल के लिए है व पुण्य कर्म से माग कर लाई हुई है। पुण्य कर्म यह सब वापस ले ले उसके पहले सामने जाकर जो इन्हें वापस लौटा देता है उसकी इज्जत रह जाती है। मगर सामने पाव जाकर ऐसा त्याग नही किया तो कर्मों को कोई शर्म नही होती। वह चाहे वहा और किसी भी समय जब भी सम्भव होगा, उन्हे छीन लेगा। कर्म ऐसा भी विचार नही करेगे कि 'इस वक्त इस जीव को इस धन धान्यादि की आवश्यकता है अत वापस नही लू, या इस स्थान पर वापस न लू।' वह तो इसका भाग काल समाप्त हुआ कि वापस ले ही लेगा। फिर चाहे आप रुदन करे अथवा दहाडे मारे। कर्म के उदय से जो ऋद्धि एव समृद्धि मिली है, उसमे पूर्णता मत मानिए एव उस पर आसक्ति मत रखिए।

आत्मा की जो अपनी समृद्धि है वह आपकी सच्ची पूर्णता है, वह स्वभाविक है। उसे कोई वापस मागने वाला नही है। सच्चे रत्न का प्रकाश रत्न को छोडकर कही नही जाता। उस प्रकाश को कोई नही ले जा सकता।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता वगैरह गुण आत्मा की स्वाभाविक सम्पत्ति हैं। इन्हे प्राप्त करने म और जो प्राप्त हो गये है उनकी सुरक्षा का पुरुषार्थ करना चाहिए।

अवास्तवी विकल्पैः स्यात् पूर्णताब्धेरिवोर्मिभिः ।
पूर्णानन्दस्तु भगवान् स्तिमितोदधिसन्निभः ॥३॥

तरंगे बढ़ने से समुद्र की पूर्णता व विकल्प बढने से आत्मा की पूर्णता, यह दोनो पूर्णता अवास्तविक हैं। दोनो ही पूर्णता

क्षणिक हैं व दोनो ही पूर्णताएं अपूर्णताओ में परिवर्तित होने वाली है।

मै धनवान्। मै कुलवान्। मै रूपवान्। मैं वलवान्। मै प्रतिष्ठावान्! इस प्रकार धन से, कुल से, रूप से, वल से या प्रतिष्ठा से स्वयं को पूर्ण मानने वाला जीव वेचारा भ्रमणा मे भटकता रहता है। उसे क्या भान है कि धन, कुल, रूप, वल, प्रतिष्ठा वगैरह के विकल्प तो मात्र जलतरंगे हैं! अर्थात् अल्पकालिक हं व अल्पकाल के लिए ही देखने का आनन्द उपस्थित करती हं, फिर विलीन हो जाती है।

क्या आपने कभी समुद्र की तरंगो को आलोड़ित होते देखा है? तरंगें नाम ही उसका है जो अल्पकाल के लिए टिके। परन्तु तरंगे जव तक उछलती रहती है तव तक समुद्र मे खलवली मची रहती है। समुद्र का पानी मट मैला दिखाई देता है।

क्या धनवान्य मे पूर्णताप्राप्ति की कामना रखने वाले मनुष्यो की स्थिति ऐसी ही नही है? एक घड़ी मे (पल मे) वे उछलते दिखते हं व दूसरे ही पल शान्त व फिर उछलते हुए! इसका कारण यह है कि वे विकल्प करके थक जाते हं तव शान्त हो जाते है तो फिर उछलने लग जाते है। जिस मनुष्य के चित्त मे वाह्य पदार्थ प्राप्त करने व प्राप्त किये हुओ की रक्षा करने के मनोरथ एवं विकल्प चलते रहते हैं उस मनुष्य के चित्त में केवल अशान्ति, क्लेश एवं संताप की भयानक कलकलाहट ही सुनाई पड़ती रहती है और उस आत्मा मे अन्याय अनीति आदि अनेक प्रकार का मैल भी दिखता है।

इसके विपरीत पूर्णानन्दी आत्मा प्रशांत स्थिर महोदधि के समान होती है। न कोई विकल्प न कोई तरंग। न कोई

अशांति, क्लेश या संताप। न कोई अन्याय, अनीति या दुराचार का भैर। पूर्णानन्दी के आत्मसमुद्र में तो ज्ञानादि गुणरत्नों का भण्डार भरा रहता है। उसी में वह अपनी पूर्णता मानता है।

जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत् तृष्णाकृष्णाहिजाङ्गुली।
पूर्णानन्दस्य तत् किं स्याद् दैन्यवृश्चिकवेदना ॥४॥

क्या तुम्हारे पास हजारों लाखों की सम्पत्ति नहीं है इसलिए रो रहे हो? क्या तुम्हारे पास रूप एवं सौन्दर्य नहीं है इसलिये निराश बन गये हो? क्या तुम्हारे पास सत्ता नहीं है इसलिए दीन बनकर घर २ भटक रहे हो? क्या तुम्हारे पास सुन्दर पत्नी नहीं है इसलिए कामातुर बने नगर की गली गली में घूम रहे हो?

किस लिये यह सारी दीनता? दीन न बनो। जिन २ पदार्थों की तृष्णा एवं इच्छा कर उन्हें प्राप्त करने हेतु दूसरों के सामने भीख मांगते हो और चाटुकारी करते हो, जरा उन्हीं पदार्थों की ओर तो देखो। इन पदार्थों के मिलने से भी तुम्हारे चित्त में न शान्ति रहेगी न प्रसन्नता रहेगी। फिर ये पदार्थ तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हारे पास रहेंगे भी नहीं अतः इनसे तुम्हें सच्ची पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकेगी।

"मुझे जगत के बाह्य जड़ पदार्थों से कोई प्रयोजन नहीं है, ये तो मेरे भाग्य में होंगे तो मिलेंगे—मैं तो मेरी आत्मा के क्षमा, नम्रता, ज्ञान, दर्शन, चारित्र वगैरह गुणों से पूर्ण हूँ—इन गुणरत्नों से मेरी पूर्णता है" इस ज्ञान दृष्टि को खोलो और खुली रखो। बार बार बन्द हो जाय तो बार बार खोलो।

जिस तरह अपनी आंखे बार बार बन्द होने पर उसे बार बार खोलते है। फिर बाह्य पदार्थों की अभिलाषा मे से पैदा होने वाली वेदना एवं संताप तुम्हें पीड़ा नही पहुंचा सकेंगे क्योंकि तुम्हारे पास ज्ञानदृष्टि का महामन्त्र अर्थात् जांगुली महामन्त्र आ गया।

फिर? कृतांतकाल जैसे काले नाग को भी वशीभूत कर सके ऐसा चमत्कारी आपका प्रभाव होगा। ऐसे मन्त्र के सामने एक दो बिच्छुओ के डंकों की तो बिसात ही क्या है?

"मै गुण रत्नो से पूर्ण हूँ" इस दृष्टि ने ऐसी विस्फोटक अणु शक्ति भरी है कि तृष्णा के मेरुपर्वत को भी चूर २ करने को उसे समय नही लगता। चक्रवर्ती की तृष्णा को भी पल भर मे नष्ट करने वाली ज्ञानदृष्टि सामान्य मनुष्य की तृष्णा को तो आंख झपकाने मात्र के समय मे ही खण्ड २ कर देती है।

पूर्यन्ते येन कृपणास्तदुपेक्षैव पूर्णता ।
पूर्णानन्दसुधास्निग्धा दृष्टिरेषा मनीषिणाम् ॥५॥

ज्योंही तुम्हारी दृष्टि जगत के पौद्गलिक सुखो से विमुख बनी और आत्मा के अनन्त गुणो की तरफ उन्मुख हुई एवं इन गुणो के आनन्द का अनुभव हुआ कि तुम्हारे जीवन मे एक महान् परिवर्तन आयेगा। परन्तु आपको अन्तरात्मा के गुणो मे आनन्द की अनुभूति करनी पड़ेगी। पहले तुम्हें दूसरो की आत्मा मे गुणों को देखना होगा, मात्र गुणों को ही, दोष एक भी नहीं। और उसमे आनन्द मानने का प्रयोग शुरू कर देना पड़ेगा। ज्योंही दूसरे जीव की तरफ दृष्टि जाय, गुण लिए बिना वापस नही

आये। जिन जिन गुणो को देखते तुम्हें प्रसन्नता होगी वे वे गुण तुम्हारी आत्मा मे भी प्रकट होते चले जाएगे। वह गुणपूर्णता का आनन्द ऐसा अनुभव मे आयेगा, कि वैसा अनुभव अनन्त कालचक्र मे भी न हुआ हो। तुम्हारा हृदय उस आनन्द अमृत से छलकने लगेगा और फिर आपके जीवन म, जावन व्यवहार म एक अभूतपूर्व परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगेगा।

जगत के जीव जिन सुखो को प्राप्त करने के लिए तनतोड मेहनत करत है व लाखो तरह के पाप करते हैं, उन सुखो के के प्रति आपका आकर्षण नहीं रहेगा। आप स्वाभाविक रूप मे सुखो को प्राप्त करने के लिए जी तोड मेहनत भी नही करेगे और लाखो पाप भी नही करेगे। जैसे ही जगत्प्रिय सुखो के प्रति आप मे उदासीनता आई, उन सुख म सुख की कल्पना ही मृतप्राय हो गई फिर उन्हें प्राप्त करने म श्रम एव पाप होगा ही किस तरह? आप वह सुख याने जगत के जीवो को प्रिय सुख त्याग करने की वृत्ति वाले बन जायेंगे। चूकि वे सुख आपको गुणो की पूर्णता म विक्षेपरूप लगेगे। जब तक यह परिवर्तन नही आये तब तक आपको सन्तोष से नही बैठना है। गुण दृष्टि को उत्तरोत्तर एव अधिक से अधिक विकसित करते रहना है।

अपूर्णः पूर्णतामेति पूर्यमाणस्तु हीयते ।
पूर्णानन्दस्वभावोऽय जगदद्भुतदायकः ॥६॥

'बाह्य धन धान्यादि की भी साथ रखे और पूर्णता प्राप्त करने का पुरुषार्थ भी करे एव आतरिक गुणो म व स्वभाव दशा मे पूर्ण बने" यह विचार कितना असगत है। क्या दो प्रतिपक्षी इच्छा एव भावना एक स्थान पर रह सकती है?

विभावदशा मे लीन बना रहे और स्वभाव दशा में भी आनन्द का अनुभव करता रहे, यह कितनी बड़ी विचित्र बात है? एक तरफ जिसे १०४ डिग्री का बुखार हो व दूसरी तरफ वह मिठाई का स्वाद लें, यह जैसे असंभव है वैसे ही बाह्य पौद्गलिक सुखों का उपभोग करता रहे एवं तृष्णाओ को तोड़े बिना पूर्णानन्द का अनुभव करें, यह भी असंभव है।

जैसे जैसे इन्द्रियजन्य सुखो की अभिलाषा कम होती जाती है, उपभोग कम होता जाता है, त्यों २ आत्मा के गुणो की पूर्णता का आनन्द बढ़ता जाता है, अर्थात् इन्द्रियजन्य सुखो की अपूर्णता आत्मगुणों की पूर्णता का कारण बनती है। चूंकि कारण के बिना कार्य नही होता। आत्मगुणों मे पूर्णानिन्द अनुभव करना है तो इन्द्रियजन्य सुखों का त्याग व उनकी स्पृहा का त्याग करना ही होगा। मिठाई के स्वाद का आनन्द लेना है तो बुखार को दूर करना ही पड़ेगा व जिह्वा पर आई हुई कड़वाहट को दूर करना ही पड़ेगा।

गुणो के पूर्णानिन्द का यह स्वभाव है कि वह इन्द्रियजन्य सुखों के आनन्द के साथ नही रह सकता। इन्द्रियजन्य सुखों का यह स्वभाव है कि वे गुणों के पूर्णानन्द के साथ नही रह सकते। कैसा आश्चर्यकारी स्वभाव है दोनो का? जब आत्मा बाह्य सुखो का त्याग कर गुणों के पूर्णानन्द की मस्ती मे रम जाती है तब जगत आश्चर्यचकित हो जाता है! जिन सुखो के बगैर जगत के प्राणी क्षण भर भी नहीं रह सकते उन सुखो का त्याग कर महान् एवं अपूर्व आनन्द मे निमग्न होने वाला पूर्णानन्दी, जगत के लिए एक आश्चर्य का विषय बन जाता है। ऐसे व्यक्ति के सामने संसार के लोग आंखें फाड़कर टुकुर २ देखते रहते है।

परस्वत्वकृतोन्माथा भूनाथा न्यूनतेक्षिणः ।
स्वस्वत्वसुखपूर्णस्य न्यूनता न हरेरपि ॥७॥

बाह्य पदार्थ आपको चाहिये जितने भी मिल जाये, तो भी आपको सतोष नही होगा, वे आपको कम ही लगेगे। इसका कारण ?

जो पदार्थ आपके नही है—आपकी आत्मा के नही हैं किन्तु पराये है, कर्मों के उदय से आपको मिले है, उसके लिए मनुष्य जब 'ये पदार्थ मेरे हैं-यह घर मेरा है-यह धन मेरा है-यह सत्ता मेरी कुटुम्ब मेरा, यह देह मेरी है" ऐसी ममत्व बुद्धि रखता है तो उसके चित्त मे एक प्रकार की विह्वलता प्रकट होती है। यह विह्वलता मनुष्य की दृष्टि मे विपर्यास उत्पन करती है। विपर्यस्त दृष्टि से मनुष्य जो कुछ देखता है वह उसे कम लगता है। रहने को एक मकान है तो कम नजर आयेगा, दूसरे घर की आकाक्षा जाग्रत होगी। प्रयोग मे लाने को हजारो रुपये हैं पर वे कम प्रतीत होगे, लाखो रुपये इकट्ठे करने की अभिलाषा उत्पन्न होगी। शहर एव समाज म अधिकारपूर्ण स्थिति होगी पर कम ही लगेगी। देश की सत्ता प्राप्त करने की इच्छा एव आकाक्षा उत्पन्न होगी। सक्षिप्त मे कहें तो जो कुछ भी मिलेगा उससे सतोष व शांति प्राप्त नही होगी। नई २ आकाक्षाओ की विह्वलता बढती जायेगी। जीवन शोक सताप एव चिंताओ मे व्याप्त होता जायगा। इसी प्रकार से कितने ही राजा महाराजाओ ने और श्रीमतो ने अपना जीवन पूरा किया है व भव की भयानक खाइयो म अदृश्य हो गये हैं।

जो आत्मा का है—अपन माने आत्मा, जो अपना है उसे ही अपनत्व की बुद्धि एव दृष्टि से देखो। "मेरा

ज्ञान है-मेरा चारित्र है-मेरी श्रद्धा है, मेरी क्षमा, नम्रता एवं सरलता है" इस प्रकार की ममत्वबुद्धि करने से आपके चित्त मे एक प्रकार का अपूर्व पूर्णानन्द प्रकट होगा। यह पूर्णानन्द आपकी दृष्टि का नवीन सृजन करेगा। आपको किसी बात मे न्यूनता नही लगेगी। बाह्य पदार्थ आपके पास नही होगे तो भी न्यूनता नही लगेगी। आपके सामने राजा महाराजा तो क्या, देव लोक के देवेन्द्र भी आयें तो भी आपको अपने मे उनसे कुछ भी कम नजर नही आयेगा। हां, उन्हे आपका पूर्णानन्द देखकर अपने मे कमी नजर आ जाये, यह बात अलग है।

कृष्णे पक्षे परिक्षीणे शुक्ले च समुदञ्चति।
द्योतन्ते सकलाध्यक्षाः पूर्णानंदविधोः कलाः ॥८॥

शुक्ल पक्ष में आने वाली प्रत्येक रात्रि मे चन्द्रमा की कला दिन प्रतिदिन अधिक से अधिकतर विकसित होती है, एवं प्रकाशित होती है, इससे कौन अनजान है? सारा विश्व चन्द्रमा की सुशोभित कला के दर्शन कर आनन्दित होता है।

आत्मा भी जब शुक्ल पक्ष मे प्रवेश करती है, तब पूर्णानंद की कला प्रतिदिन विशेष से विशेष खिलती जाती है। मिथ्यात्व का राहु जैसे जैसे हटता जाता है, पूर्णानन्द की कला भी वैसे ही विकसित होती जाती है।

काल की दृष्टि से यहां शुक्ल पक्ष व कृष्णपक्ष की कल्पना की गई है। अनन्तानन्त पुद्गल परावर्तन काल से संसार मे भटकते हुए जीव को कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की उपमा दी गई है। भटकता भटकता जीव, जब संसार परिभ्रमण का अर्धपुद्गल परावर्तन से न्यून काल बाकी रखता है, तब उन्हे शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा कहा जाता है।

आत्मा की चैतन्यअवस्था पूर्णानन्द-कला से तब शोभायमान होती है जब आत्मा ने शुक्ल पक्ष मे प्रवेश पा लिया हो। अपनी आत्मा शुक्ल पक्ष मे प्रविष्ठ हुई या नही, यह जानने के लिए पाच लक्षण देखने चाहिए—(१) श्रद्धा (२) अनुकपा (३) निर्वेद (भव निराग) (४) सवेग (मोक्ष प्रीति) एव (५) प्रशम। ये पाचो लक्षण न्यूनाधिक मात्रा मे दृष्टिगोचर हो तो समझ लेना चाहिये कि हमने शुक्ल पक्ष म प्रवेश किया है।

"श्री दशाश्रुतस्कधचूर्णि" म ससार परिभ्रमण का एक पुद्गल परावर्तकाल बाकी रहता है तब शुक्ल पक्ष कहा गया है।

किरीयावादी णियमा भव्वश्रो नियमा सुक्कपक्खिश्रो, श्रतो पुग्गलपरियट्टस्म नियमा सिज्झिहिति, सम्मदिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा होज्ज।'

इस हिसाब से सम्यक्त्व न हो तो भी जो आत्मवादी है, वह शुक्ल पक्ष में है, व वह एक पुद्गल परावर्तकाल मे अवश्य मोक्ष जायेगा। आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा धारण किए बिना आत्मगुणो की पूर्णता का आनन्द कहा से अनुभव हो सकता है?

२ : मग्नता

प्रत्याहृत्येन्द्रियव्यूहं समाधाय मनो निजम् ।
दधच्चिन्मात्रविश्रान्तिर्मग्न इत्यभिधीयते ॥१॥

पूर्णता के मेरु-शिखर पर पहुंचने के लिए थोड़ी देर ज्ञानानन्द की तलहटी मे ठहरो। आंखे बन्द करो और अपने चैतन्य को देखो। वाह्य पदार्थों में रमण करने वाली प्रत्येक इन्द्रिय को पीछे खीच लो और उनकी शक्ति को चैतन्यदर्शन में लगा दो। विभाव मे परिभ्रमण करने वाले मन को पीछे मोड़ो और स्वभाव मे भ्रमण करने की आज्ञा दो।

चिन्मात्र में विश्रान्ति ! ज्ञानानन्द मे विश्रान्ति ! कैसा अपूर्व विश्रामगृह है ! अनन्तकाल के भवपरिभ्रमण मे ऐसा स्थान देखने को नही मिला। अनन्तकाल की यात्रा में तो ऐसे विश्रांतिगृह मिले हैं कि जिनका नाम तो विश्रान्तिगृह था पर मिलती थी उनमे केवल अशान्ति, मात्र क्लेश, थकावट और संताप। क्योंकि अब तक जीव परभाव को व जगत के पौद्गलिक विषय को ही विश्रांतिगृह मानकर उनमे वार २ आश्रय लेता था। वाह्य रूप-रंग से सारे जगत को आकर्षित करने वाले ये विश्रांतिगृह सांसारिक जीवों पर अजीब जादूगरी करते थे। इन विश्रान्तिगृहो मे जो जो प्राणी आनन्द से प्रवेश करते हैं वे करुण क्रन्दन करते हुए ही वाहर निकलते देखे जाते हैं। इन विश्रान्तिगृहो मे जीव का सर्वस्व अपहरण कर फिर उसको धक्का देकर, वाहर निकाल दिया जाता है।

किन्तु ज्ञानानंद का विश्रान्तिगृह अपूर्व है। अलबत्ता इसमें प्रवेश करने के लिए महान् पुरुषार्थ करना पडता है और उसके लिए पौद्गलिक विषयों के विश्रान्तिगृहों के क्षण-भंगुर आनन्द की विस्मृति करनी पडती है, परन्तु प्रवेश करने के पश्चात् तो उसमें मात्र आनन्द ही आनन्द है, शांति है, स्वच्छता है और उसमें से बाहर निकलने को मन नहीं करता। कदाचित् निकलना भी पडे तो यही इच्छा रहती है कि 'कैसे उसमें पुन जल्दी चला जाऊं।' ऐसी ही लगन लग जाती है। ज्ञानानन्द में ही उसको आराम लगता है। पुद्गलानन्द में मात्र परिश्रम और मजदूरी। इसी को मग्नता कहते हैं।

यस्य ज्ञानसुधासिन्धौ परब्रह्मणि मग्नता ।
विषयान्तरसंचार तस्य हालाहलोपमः ॥२॥

क्या तुमने कभी जलक्रीडा करने के लिए सागर में स्नान किया है? कोई नदी के जलप्रवाह में उतरे हो? कोई रमणीय जलसरोवर में नहाये हो? कोई स्वीमिंग पुल में प्रवेश किया है? जल क्रीडा का रसिक प्राणी जिस समय सागर, नदी, सरोवर या स्वीमिंग पूल में आनन्दविभोर हो जाता है और उस समय यदि उसे कोई बुलाने आये, कोई आ कर उसकी आनन्द व मस्ती में विघ्न डाले, उस समय उसे वह जहर के समान लगता है।

इसी प्रकार आत्मा जब ही अपने स्वभाविक ज्ञानानन्द के महोदधि में आनन्दमग्न होती है और उसकी समस्त वृत्ति ज्ञानानन्द में लीन हो जाती है, उस समय यदि उसमें कोई पौद्गलिक विषय की स्पृहा घुस आती है तो आत्मा को वह हलाहल विष के समान लगता है। पुद्गल का आकर्षक रूप फिर आपको आकृष्ट नहीं कर सकता है और पुद्गल का मोहक रस आपको लालायित नहीं

परब्रह्मणि मग्नस्य श्लथा पौद्गलिकी कथा ।
क्वामी चामीकरोन्मादाः स्फारा दारादराः क्व च ॥४॥

परम आतमस्वरूप मे लीन बनी हुई आत्मा की स्थिति इस पार्थिव जगत् के प्राकृत जीवों से बिल्कुल भिन्न होती है। आत्मा के अनन्त गुणप्रदेश पर विचरना, उस अजीब अद्भुत् प्रदेश की कहानी सुनना, उस अनजान परन्तु अनन्त अद्भुतता से भरे हुए प्रदेश के अनन्तकाल का इतिहास जानना, और इस पार्थिव जगत मे कही भी देखने को न मिले ऐसे आश्चर्य मे डालने वाले खेल तमाशे इतने प्रिय लग जाते है, और जीव इन्हे देखने, जानने और सुनने मे इतना लीन हो जाता है कि बाह्य जड़ पुद्गलो की घड़घड़ाहट उसे आकुल कर देती है। संगीत की स्वर उसे मात्र हर्ष–विषाद का घमघमाहट लगता है। रमणियो के रूप–रङ्ग उसे विष्टा की गाड़ी पर चमकता रंग रोगान दिखता है। पुष्प एवं इत्तर की सुगन्ध मे और सड़े हुए श्वान–कलेवर की दुर्गन्ध में उसे कोई अन्तर नजर नही आता। प्रचुर भोजन का थाल उसे परिष्कृत किया हुआ विष्टा ही नजर आता है। रूपवती रमणियों के कोमल स्पर्श मे एवं जंगली रीछ के कठोर बालो के स्पर्श मे उसे कोई फर्क प्रतीत नही होता। ऐसा मनुष्य कैसे रूप, शब्द, रस, गंध, एवं स्पर्शादि विषयो की प्रसंशा करेगा ? कैसे उसे सुनेगा ? दोनों ही विषय उसे नीरस लगते है।

फिर वह क्या सोने एवं रूपयो के ढेर पर चढ़कर नाचने लगेगा ? सोने एवं रूपये की चमचमाहट तो उसे आकर्षित करती है, उसे नचाती है जो शब्द रूप, रस, गंध और स्पर्श का लोभी एवं लंपट होता है। फिर रूपसुन्दरियों को अपने बाहुपाश मे लेने व उन्हें अपने आलिंगन.......... मे बांधने की चेष्टा तो दूर रही

इसकी कल्पना करना भी आत्मस्वरूप म लीन आत्मा के लिए समव नही है।

कचन एव कामिनी के प्रति उदासीनता यह ब्रह्ममग्न आत्मा का लक्षण है। कचन एव कामिनी के प्रति उदासीनता ब्रह्ममस्ती का कारण भी है।

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या साधोः पर्यायवृद्धितः।
भापिता भगवत्यादौ सेत्थभूतस्य युज्यते ॥५॥

ज्ञानमूलक वैराग्य को अ गीकार कर सासरिक वासनाओ का त्याग कर, जो आत्मा साधु बनी, जिसने मात्र ज्ञान-दर्शन एव चारित्र म ही सुखानुभव करना जीवन का परम उद्देश्य माना, जिस दिन से वह साधु बनता ह उसी दिन से ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की सृष्टि मे उसे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है, दूसरे दिन उस आनन्द मे वृद्धि होती है, तीसरे दिन उस आनन्द म विशेष वृद्धि होती है एक महीना सम्पूर्ण होने पर उस महात्मा का आनन्द दैवी सुखो म निरतर रमण करने वाले व्यतर देवो के आनन्द से भी अधिक हो जाता है। फिर मनुष्य लोक के तुच्छ एव घृणित सुखो की ओर दृष्टि ही कैसे जायेगी ? इस प्रकार दिन प्रतिदिन ज्ञान दर्शन चारित्र मे अर्थात् पूर्णता के आनद म वह इतना मग्न हो जाता है कि १२ महिने के अ त म उसे अनुत्तर देवलोक के दिव्य सुख भी आकर्षित नही कर सकते। चित्तसुख ही तेजो-लेश्या है। यह चित्तसुख १२ मास म सर्वोत्कृष्ट कक्षा पा लेता है।

इस आत्मानद-पूर्णानद की क्रमिक वृद्धि सिर्फ साधु पुरुष ही कर सकते हैं। ऐसा 'भगवती सूत्र' मे प्रतिपादन है।

किन्तु साधु किस प्रकार साधना करे, कि उसमे वह पूर्णानंद की क्रमिक वृद्धि कर सकें, इन बातो को पूज्य उपाध्यायजी महाराज समझाते हैं :—

१. क्या इन्द्रियाँ एवं मन दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विश्रान्ति गृह मे है ?

२. क्या पौद्‌गलिक विषयो को देखने से, आसक्ति होने पर, 'मैंने विष पान किया' ऐसा लगता है ?

३. क्या पर-भाव में से कर्तृत्व का अभिमान दूर हुआ है ?

४. क्या धन-सम्पति का उन्माद एवं रमणियो का अनुराग नष्ट प्रायः हो गया है ?

जो साधक इन प्रश्नों का उत्तर 'जी, हाँ'— मे दे सके, उस साधक मे ही पूर्णानन्द की क्रमिक वृद्धि होना सभव है। पूर्णानद की क्रमिक वृद्धि के लिये उपर्युक्त चार बातो की सिद्धि का पुरुपार्थ करना चाहिए। ज्यो सिद्धि हुई कि पूर्णानंद बढ़ने लगेगा।

ज्ञानमग्नस्य यच्छर्म तद्वक्तुं नैव शक्यते ।
नोपमेयं प्रियाश्लेषैर्नापि तच्चन्दनद्रवैः ॥६॥

आकाश की कोई उपमा बता सकोगे ? सागर की कोई उपमा दिखाओगे ? विश्व मे जो एक और अद्वितीय होता है उसकी उपमा देने मे महाकवि भी समर्थ नही हुए है। ज्ञान मग्नता मे से प्रकट हुआ सुख भी ऐसा ही एक एवं अद्वितीय ही है।

ज्ञान मे मग्न बनी आत्मा का सुख कैसा होता है ? यदि आप ऐसा प्रश्न पूछे तो मैं ऐसे सुख को कोई उपमा नही दे सकता ।

आप पूछेगे क्या यह सुख ज्ञान-मग्नता का सुख स्वसुन्दरी के साथ रमण करने मे प्राप्त सुख के समान है ?

उत्तर —नही

क्या यह सुख चन्दन के विलेपन मे मिलने वाले सुख के समान है ?

उत्तर —नही

तो यह सुख कैसा है ?

कैसे समझाउ ? विश्व मे कोई उपमा नही मिलती।
४ इस सुख को समझने के लिए इसका अनुभव करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है। बाह्य पदार्थों से प्राप्य समस्त सुखो से विलक्षण, जीवन म अभूतपूर्व इस ज्ञानमग्नता के सुख का एक बार भी अनुभव कर लेने के पश्चात् आप बार बार इस सुख का रसास्वादन करने हेतु स्वत ही स्वभाव दशा, गुण दृष्टि एव आत्मा स्वरूप के पास आने रहेंगे।

जीव का यह स्वभाव होता है कि एक बार एक सुख का रसास्वादन करने के पश्चात् यदि उसे वह सुख "अपूर्व एव रसपूरित" लग जाता है तो फिर बार बार उस सुख को प्राप्त करने के लिये बिलाने जाता है। ससार के पौद्गलिक

सुख के स्वाधीन न होने से सुखो के लिये जीव को विलखते ही रहना पड़ता है। किन्तु ज्ञानमग्नता का सुख तो स्वाधीन सुख है। जब इस सुख की भावना जागृत हो, उसे सफल बना सकता है। बात एक कह देता हू: कि ज्ञानमग्नता का सुख मात्र शब्द सुनने से अनुभव नही किया जा सकेगा इसलिये स्वयं अनुभव ही करना पड़ेगा।

शमशैत्यपुषो यस्य विप्रुषोऽपि महाकथाः ।
किं स्तुमो ज्ञानपीयूषे तत्र सर्वांगमग्नता ? ॥६॥

मात्र एक बिन्दु ! ज्ञानपियूष का एक बिन्दु ! इसके प्रभाव का क्या वर्णन किया जाय? एक-एक बिन्दु ही चित्त को उपशमरस मे तल्लीन कर दे ऐसी महाकथाएँ एवं महाकाव्य रचे हुए पड़े है। ज्ञानामृत की एक-एक बूंद क्रोध, मान, माया और लोभ के धधकते दावानल को बुझा सकती है। आहार-भय-मैथुन और परिग्रह की वासना को निर्मूल कर सकती है।

रुपरानी कोश्या की कामोत्तेजक चित्रशाला मे चातुर्मास कर श्री स्थूलभद्रजी ने कामदेव पर विजय प्राप्त कर समग्र संसार को आश्चर्यान्वित कर दिया। इसके मूल मे कौन सा महान् तत्व काम कर रहा था? ज्ञान पियूषका एक बिन्दु, पूर्णानंद का एक बिन्दु।

निर्दोष एवं निष्पाप मदनब्रह्म मुनि को पकड कर खड्डे में उतार कर राजा ने क्रुद्ध होकर उनके गले पर तलवार चला दी व धरती को रक्तरंजित कर दी। मुनि श्री ने क्रोध पर विजय प्राप्त कर आत्मस्वरुप की पूर्णता प्राप्त की।

उनके पीछे कौन सा परम रहस्य काम कर गया था? ज्ञानामृत का एक बिन्दु! पूर्णानंद का एक बिन्दु!

राजऋद्धि और रमणियों का त्याग कर राजकुमार में से मुनिराज बनने वाले ललितांग मुनि के आहार पात्र में चार तपस्वी मुनियों ने द्वेषपूर्वक थूका, फिर भी ललितांग मुनि के हृदय में उपशमरस की मधुर बांसुरी बजती ही रही, इस बांसुरी के स्वरों ने शिवसुन्दरी को आकर्षित कर लिया। इस उपशम रस की बांसुरी का वादन करने वाला कौन था? ज्ञानामृत का एक बिन्दु! पूर्णानंद का एक बिन्दु!

ऐसी तो शत सहस्र महाकथाओं का सृजन कर ज्ञान बिन्दुओं ने अनन्तकाल में इस पृथ्वी पर उपशमरस का झरना प्रवाहित किया है, जिसमें अनन्त-अनन्त आत्माओं ने स्नान कर अपनी संतप्त अन्तरात्मा को प्रशान्त किया है। ज्ञानामृत में सर्वांगसम्पूर्ण स्नान करने वाले परमपुरुषों की मैं किन शब्दों में स्तुति करूँ? वे शब्दों के विषय नहीं हैं। उनको तो आँखें बंद कर भावपूर्ण अन्तःकरण से देखता ही रहूँ, देखते ही रहें, इससे विशेष करना हमारे लिए मुश्किल है।

यस्य दृष्टि कृपावृष्टिर्गिरः शमसुधाकिर ।
तस्मै नम शुभज्ञानध्यानमग्नाय योगिने ॥८॥

देखा, उनकी दृष्टि में से करुणा बरस रही है केवल करुणा! अद्वैत करुणा! सकल विश्व पर करुणा बरस रही है। 'सब जीवों का दुःख दूर हो, सब जीवों के कर्म-बन्धन नष्ट हों।'

जानते हो कि उनके नयनों में से करुणा क्यों बरस रही है? ज्ञानध्यान की मस्ती का सागर छलक रहा है जिसमें से करुणा की

वर्षा हुई है। कैसा अपूर्व बादल है! कैसी अनुपम वर्षा है! जो कोई इस वर्षा मे स्नान करे, उसके तन मन की सारी अकुलाहट खत्म हो जाय, तन मन का मैल धुल जाय।

उन योगी की वाणी भी कितनी मधुर है! जैसे अमृत! जैसे मधु! जो कोई इन वाणी का श्रवण करे उसके क्रोध, मान, माया और लोभ का उन्माद शान्त हो जाय। हृदय मे उपशम रस की बाढ आ जाय, कभी भी उस योगी की जबान मे से क्रोध का लावा उफनता नही और कभी भी राग के प्रलाप निकलते नही। जब भी सुने आत्महित की बात! और वह भी शक्कर जैसी मीठी वाणी मे!

ऐसे महायोगी के चरणो मे अपन नमस्कार करे, भाव पूर्वक वंदना करें, इसलिए उनके सन्मुख बने रहे, उनकी करुणा के पात्र बनें व उनकी वाणी श्रवण करने की योग्यता प्राप्त करे।

'हे महायोगी! आपको हमारी वंदना हो!' यहां साधक आत्मा को दो महत्व की बातें प्राप्त होती है। जैसे-जैसे ज्ञान एवं ध्यान मे आत्मा को मग्नता होती जाय वैसे वैसे उसकी दृष्टि एवं वाणी मे परिवर्तन होना चाहिए। करुणा दृष्टि से विश्व का अवलोकन करने का और विश्व के जीवो के साथ उपशमरसपूरित वाणी का व्यवहार करने का। इसलिए जगत के जीवो के प्रति हमारी जो दोषदृष्टि है उसके स्थान पर हमे गुणदृष्टि का सृजन करना होगा। ज्ञान-ध्यान की मग्नता मे से गुणदृष्टि प्रगट होती है। गुणदृष्टि से समस्त जीवो के साथ सम्बन्ध प्रशस्त बनता है।

३ : स्थिरता

वत्स ! किं चञ्चलस्वान्तो भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा निषीदसि ?
निधिं स्वसन्निधावेव स्थिरता दर्शयिष्यति ॥१॥

तेरा चित्त चचल बन गया है ? तेरा चित्त अनेक चिन्ताओं में घोर सताप अनुभव करता है न ? यही बात है न ? फिर किस लिए ग्रामानुग्राम भटकता है ? किसलिये घर-घर भटकता फिरता है ? किस लिए पर्वत गुफाएं और जगलो मे परिभ्रमण कर रहा है ? वहा से तेरे को खजाना मिलने वाला नही है । अभी तक तो किसी को मिला नही । तेरे साथ जो अरबो मनुष्य भटक रहे है, उनसे पूछ ले । वे भी तेरे जैसे ही सतप्त है । हा, तेरे को जो खजाना लगता है वास्तव मे वह खजाना नही है उसमे सुख एव शान्ति देने वाली सम्पत्ति नही है । हम मना नही करते कि तू खजाना मत खोज । परन्तु भाई, जहा असली खजाना है वहाँ खोज कर तू चिन्ता मत कर मैं तेरे को वह स्थान बताऊगा । तू विश्वास एव धैर्य धारण कर स्थिर बन, और उस पर खजाना खोजने का प्रयत्न कर, तेरे को वह खजाना मिलेगा। ऐसा वह खजाना प्राप्त होगा कि जो तेरे हृदय को आनन्द से भर देगा व सतापो को शान्त कर देगा ।

बात एक ही है स्थिर बन । स्थिर बनने का अर्थ है पौद्गलिक पदार्थों की आकाक्षा को मन से बाहर निकाल फेकना व आत्मा के ज्ञानादिगुणो की तरफ आकृष्ट

होना। बाह्य धन, सम्पत्ति एवं कीर्ति वगैरह प्राप्त करने की दौडधूप मे जीव के दुर्भाग्य मे क्लेश एवं खेद ही होता है। तूं व्याकुल बन जायगा, चित्त की व्याकुलता जीव को ज्ञान एवं परम ब्रह्म मे लीन नही होने देती, इससे जीव पूर्णानन्द के शिखर की तरफ प्रस्थान नहीं कर सकता। कदाचित प्रयाण करें भी, तो बीच मे ही अटक जायेगा, नीचे गिर पड़ेगा।

स्थिर बन, स्थिरता ही तेरे को तेरे पास रहा हुआ महान् खजाना बतायेगी। बाह्य पौद्गलिक पदार्थो के पीछे भटकते हुए मन को रोक ले। जब मन भटकता रुकेगा तो वाणी एवं काया भी रुक जायेगी। मन को रोकने के लिए मन को आत्मा की सर्वोत्तम अक्षय एवं अनंत समृद्धि बताये।

ज्ञानदुग्धं विनश्येत लोभविक्षोभकूर्चकैः।
अम्लद्रव्यादिवास्थैर्यादिति मत्वा स्थिरो भव ॥२॥

कई भोले एवं भले प्राणी ऐसा कहते है कि "हम आत्म-ज्ञान भी प्राप्त करेगे एवं वाह्य पौद्गलिक सुखो के लिए भी पुरुपार्थ करेंगे।" ऐसे भूले भटके जीवो को परम पूज्य यशो विजयजी महाराज, इस गलत मार्ग मे विद्यमान बुराइयो का भान कराते है।

दुग्धपूर्ण भाजन मे खटाई डाल दी जायं तो दूध फट जाता है, कुचा बन जाता है। वह दूध अपने मूल स्वरुप मे नही रह सकता और उसका उपयोग करने वाला भी उससे तुष्टि-पुष्टि एवं वल प्राप्त नही कर सकता बल्कि वह रोग का भोग बनता है। ज्ञानामृत से भरे हुए आत्म-

भाजन मे पौद्गलिक सुखो की स्पृहा पडने से ज्ञानामृत की भी वैसी ही अवदशा हो जाती है। वह ज्ञान ज्ञानस्वरूप नही रहता, उसमें विकार आ जाते हैं। फिर वह ज्ञान आत्मा की उन्नति, आबादी व विशुद्धि नही कर सकता बल्कि आत्मा को टेढी-उल्टी समझ देकर बरबादी के खड्डे मे धकेल देता है।

जबकि कलश मे दूध अधिक होता है और खटाई कम डालने मे आती है तब भी दूध बिगड जाता है, तो अपने पास तो दूध थोडा है व खटाई ज्यादा डालते है। इसमे तो फिर दूध की दुर्दशा ही है न? ज्ञान थोडा है व पौदगलिक सुख की स्पृहा अनन्त है। फिर यह ज्ञान ज्ञानरूप रह सकता है? यदि ज्ञानामृत को, आत्मज्ञान को आत्मज्ञान के ही स्वरूप मे रखना है तो चचलता एव अस्थिरता का त्याग करना ही होगा। यह खट्टे पदार्थ के समान है।

मथुरा के मगु आचार्य के पास ज्ञानामृत का घडा भरा हुआ था, परन्तु रसनेन्द्रिय के विषयो की खटाई उसम पड गई, उसमे चचलता एव अस्थिरता आ गई, ज्ञान ज्ञानस्वरूप नहीं रहा, उस ज्ञान द्वारा उनकी आत्मा को आरोग्य नही मिला। तुष्टि पुष्टि नही हुई उनकी आत्मा देव की दुर्गति मे पड गई। अत स्थिर बनो।

अस्थिरे हृदये चित्रा वाङ्नेत्राकारगोपना ।
पुंश्चल्या इव कल्याणकारिणी न प्रकीर्तिता ॥३॥

जो स्त्री अपने हृदय मे परपुरुष के प्रति राग धारण करती है व बाहर से अपने पति के प्रति प्रेम दिखाती है,

मीठे शब्द बोलती है व सेवा करती है, उसे कुल्टा एवं असती ही कहा जाता है, उसके मीठे शब्द व उसकी सेवा उसका कल्याण नही कर सकती !

इसी प्रकार जिस मनुष्य के हृदय मे पर पुद्‌गल व बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति है और परलोक के पौद्‌गलिक सुखों की अभिलाषा है, वह मनुष्य वाणी एवं काया से भले ही जितनी चाहे धर्म क्रिया करे, वह धर्म क्रिया उसका कल्याण नही कर सकती। 'हृदय मे सासारिक वासना एवं आचरण मे धर्म' ऐसा मनुष्य उसी कुल्टा स्त्री के समान है।

जो मनुष्य धर्मक्रियाओ के द्वारा अपने पौद्‌गलिक सुखों की वासना सफल करने की अभिलाषा रखता है उस मनुष्य का मौन एवं ध्यान आदि सब आत्मा के विशुद्धिकरण मे निष्फल जाता है।

'हम परमात्मा की पूजा करते है, हम प्रतिक्रमण एवं सामायिक आदि अनुष्ठान करते है, हम माला-जाप करते है, फिर भी हमारे चित्त की अशान्ति दूर क्यो नही होती ?' यह प्रश्न आज धार्मिक जनो के बड़े भाग मे पूछा जा रहा है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का हृदय पौद्‌गलिक सुखो के पीछे चचल हो गया है, अस्थिर बन गया है। धर्म तो करना है पर पौद्‌गलिक सुखो की आसक्ति का त्याग नही करना है। ऐसी परिस्थिति में धर्म क्रिया किस प्रकार कल्याणसाधक बन सकती है ? कैसे शुभ एवं शुद्ध अध्यवसाय उल्लसित कर सकती है ?

याद रखो, जहां तक चित्त विभाव दशा मे रहेगा। वहां तक महान् ध ' क्रियाओ द्वारा भी आत्मा की शुद्धि होना असंभव

है। इस प्रकार की गई धर्मक्रियाए कुल्टा स्त्री द्वारा प्रदर्शित आदर सत्कार के समान दभ क्रियाए है।

अन्तर्गत महाशल्यमस्थैर्यं यदि नोद्धृतम्।
क्रियौषधस्य को दोष. तदा गुणमयच्छत. ॥४॥

जब तक पेट मे मल जमा हुआ होता है तब तक धन्वन्तरी जैसे वैद्य का औषध भी बुखार नही उतार सकता है। यह क्यो होता है ? इसमे क्या वैद्य के औषध का दोष है ? नही। जब तक पेट की गन्दगी दूर न हो, तब तक औषध कुछ नही कर सकता है।

भगवत जिनेश्वरदेव द्वारा श्रावक-धर्म एव साधु-धर्म की बताई हुई अनेक क्रिया अनमोल औषधि है। इन औषधि द्वारा अनत २ आत्माओ ने पूर्व आरोग्य प्राप्त किया है पर जिन्होने यह परम आरोग्य अर्थात् आत्मविशुद्धि प्राप्त की है उन्होने सासारिक-भौतिक एव पौद्गलिक विषयो का अनुराग छोडा हुआ था। पौद्गलिक विषयो की आकाक्षा आत्मा मे जमा हुआ अनतकालीन मल है, इस मल के हटने से ही उपचार हो सकता है।

यहा एक प्रश्न का उद्भव होता है कि क्या वीतराग द्वारा बताई हुई धर्मक्रियारुप औषधियो मे पौद्गलिक सुखो की स्पृहा दूर नही हो सकती ?

अवश्य हो सकती है पर 'मुझे पौद्गलिक सुखो की स्पृहा त्यागनी है।' ऐसा सकल्प कर जो धार्मिक क्रिया की जाय और वह भी मात्र वाणी एव काया मे ही नही पर मन का भी

उसमें पूर्ण योग हो, तो जरुर पौद्‌गलिक सुखों की आकांक्षा दूर हो जायगी और क्रियारूपी औषधि आत्मआरोग्य प्रदान करेगी।

इस प्रकार एक तरफ जैसे धर्मक्रियाएँ करनी चाहिए वैसे दूसरी तरफ यह भी लक्ष्य रखना चाहिए कि 'मेरी पौद्‌गलिक सुखों की आकांक्षा कम हो जाय।' धर्मक्रिया करते समय तो इन बाह्य सुखों का एक विचार भी मन में नहीं पैठना चाहिये। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये। अन्यथा एक तरफ तो रोग दूर करने की दवा खाएं व दूसरी ओर कुपथ्य सेवन करे, ऐसी मूर्खता हो जायगी। चित्त को इस रीति से स्थिर किये बिना व स्थिर करने की प्रबल भावना के बिना मात्र धर्मक्रिया करने से यदि आत्मा परम शान्ति व प्रसन्नता अनुभव नहीं करती है तो उसमें धर्म क्रिया को दोष मत दीजिए। दोष तो आपकी वैषयिक सुखों की स्पृहा का है, आपकी चित्त-अस्थिरता का है।

स्थिरता वाङ्मनःकायैर्येषामङ्गाङ्गितां गता ।
योगिनः समशीलास्ते ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि ॥५॥

वे चाहे मनोहर नगर में रहें, चाहे निर्जन अरण्य में। नगर मे उन्हें राग नहीं, अरण्य से उनको कोई उद्वेग नहीं। चाहे सहस्ररश्मि के ज्वाजल्यमान तेज से प्रकाशित दिवस हो अथवा अमावस्या की घोर अंधकारमय रात्री हो, दिवस उनको हर्षान्वित नहीं कर सकता, रात्री उनको शोकातुर नहीं कर सकती! चूंकि उनके मन-वचन-काया में स्थिरता एकरस बन गई है। उनमे आत्मस्वरुप की, पूर्णानन्द की. ज्ञानामृत की रसधारा बह रही है, वाणी मे पूर्णानन्द की स्वादुता है एवं काया में पूर्णानन्द की प्रभा

है। बाह्य जगत के साथ संबंध तोड़े बिना एवं अभ्यंतर जगत के साथ संबंध जोड़े बिना मन वचन एवं काया में स्थिरता एवं स्वभाव दशा में स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती। जो मनुष्य अपने ही घर के लोगों से संबंध रखता है व उन्हें प्रगाढ़ बनाता है, उसे आनन्द एवं सुख प्राप्त करने के लिए दुनिया में नहीं भटकना पड़ता। दुनिया की प्रसन्नता एवं अप्रसन्नता, हर्ष व विषाद पर उसकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता, हर्ष-विषाद निर्भर नहीं रहता है उसे बाहर की परवाह तक भी नहीं होती। मालवा का मदनवर्मा राजा ऐसा ही था। उसे बाहर के जगत की कोई परवाह ही नहीं थी। वह अपने अन्तःपुर में उस मिली समृद्धि में ही एकरस हो गया था। उसने न किसी के साथ युद्ध किया व न किसी के साथ झगड़ा।

इसी प्रकार काकन्दीनगरी के धन्य कुमारने बत्तीस क्रोड़ स्वर्ण मुद्राओं के साथ संबंध तोड़ व बतीस चन्द्रवदनी सुन्दरियों के साथ संबंध तोड़ अन्तर जगत के साथ सम्बन्ध बांधा। वह अपने आत्मस्वरूप में से ही आनन्द एवं सुख पाने लगा। मन-वचन एवं काया पूर्णानन्द में एकरस बन गये। क्षुधा तृषा आहार एवं वैभारगिरी का निर्जन वन उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सके। स्थिरता ने उसे अपार एवं अद्भुत सुख का खजाना बता दिया। वह उसी में तल्लीन हो गया। अब उनको बाह्य द्रव्य-क्षेत्र काल व भाव के साथ क्यों झगड़ना पड़े? धन्य है ऐसे महायोगी पुरुषों को।

> स्थैर्यरत्नप्रदीपश्चेद् दीप्रं संकल्पदीपजैः ।
> तद्विकल्पैरलं धूमैरलं धूमैस्तथाऽऽश्रवैः ॥ ६ ॥

"मैं श्रीमन्त बनूं" यह है संकल्परूपी दीपक। यह मिट्टी का बना हुआ है।

अमुक बाजार जाऊ, दुकान करु, किसी श्रीमंत को भागीदार (Partner) बनाऊं। खुले कलेजे से होशियारी के साथ धंधा करु .....खूब धन कमाऊं.....एक बड़ा बंगला बनाऊ..मोटर रखूं।' यह विकल्पों का धूआं है। संकल्प के दीपक में से विकल्प का ऐसा धुआं निकलता ही रहता है, और संकल्प-दीपक का प्रकाश तो क्षण भर के लिए रह कर बुझ जाता है, मनमंदिर मलिन बन जाता है।

एक श्रीमंताई की अभिलाषा जाग्रत होने से मनुष्य कितने हिंसादि आश्रवो का विचार करता है! लेकिन इन विचारो का परिणाम क्या है? केवल थकावट, खेद, क्लेश एवं कर्म बंधन। श्रीमंताई की इच्छा क्षण भर आनंद प्रदान कर शान्त हो जाती है, परन्तु तदनन्तर मनुष्य विकल्पो के जाल मे फंस कर अपने मन को आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान से विकृत कर डालता है। विकल्पो के धुए से वह धुंधला जाता है व हिंसादि आश्रवो मे भटक जाता है। अंत मे मृत्यु की शरण लेकर दुर्गति की खाई मे गिर पड़ता है।

जैसे श्रीमंताई की इच्छा वैसे कीर्ति एवं सत्ता की इच्छा। 'मैं प्रधान बनूं' यह संकल्प जाग्रत हुआ, तत्पश्चात् कितने विकल्प लागु हो जाते है? 'चुनाव लड़ूं, पैसे खर्च करु, दूसरे पक्ष को हराने के लिये अनेक प्रकार की युक्ति प्रयुक्ति प्रयोग मे लाऊं, प्रभाव बढाऊँ, हिंसा एवं झूठ आदि जिन-जिन आश्रवो का आश्रय लेना पड़े लूं।' इन विकल्प करने मे क्या मनुष्य प्रधान बन जाता है? हाँ, पागल अवश्य बन जाता है। अनेक प्रकार के पापो मे वह जरुर फंस जाता है।

स्थिरता है रत्न दीप। जिसमे सिर्फ प्रकाश है, धुआ नाम को भी नहीं।

'मैं अपने आत्मस्वभाव में आत्मगुणों में रमण करूं एवं अपने गुणों का स्वामी बनूं' यह भावना है रत्न दीपक।

'इसलिए मैं पर पुद्गलों की आसक्ति दूर करूं। बाह्य जगत को देखना, सुनना, एवं अनुभव करना त्याग कर दूं। देवगुरु एवं धर्म की उपासना में लीन हो जाऊं।" यह है रत्न दीपक का प्रकाश! इस प्रकाश में मनोमंदिर देदीप्यमान बन जाता है।

> उदीरयिष्यसि स्वान्तादस्थैर्यं पवनं यदि।
> समाधेर्धर्ममेघस्य घटां विघटयिष्यसि ॥७॥

जिस प्रकार तेज पवन बादलों की घनघोर घटा को छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार चित्त की चंचलता भी समाधिरूप धर्ममेघ की घनघोर घटा को बिखेर देता है। आते हुए केवलज्ञान को क्षत विक्षत कर डालता है। 'धर्म मेघ' समाधि आत्मा की ऐसी उच्चतम अवस्था है कि उसमें चित्त की समग्र क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध हो जाता है। जिसमें कोई शुभ अथवा अशुभ विचार नहीं होता, ऐसी अवस्था को अस्थिरता नहीं आने देती है। जिस अवस्था के बिना केवलज्ञान प्रगट नहीं हो सकता है।

अरे, चित्त ज्योंहि पौद्गलिक पदार्थों में जाता है त्योंही आत्मस्वरूप का शुद्ध विचार टिक सकता नहीं एवं दान, शील, परमार्थ व परोपकार का शुभ विचार भी टिक नहीं सकता है। कोई भी शुभ विचार मन में रहा हो वहां पौद्गलिक सुखों की स्पृहा यदि जागृत हो गई, तो सब समाप्त। शुभ विचार एवं शुभ आचार में से जिन जिनका पतन हुआ है उनके

पीछे पौद्गलिक सुखों की आकांक्षारुप अस्थिरता का ही काम था।

गोचरी के हेतु पधारे हुए तरुण मुनि अरणिक के चित्त मे एक ओर तो मध्याह्न के तीव्र ताप ने आकुलता खड़ी की, तो दूसरी तरफ महल के झरोखे मे खड़ी तरुणी ने उन पर कटाक्ष-प्रक्षेप किया। संयम साधना की शुभ विचारधारा छिन्न भिन्न हो गई।

पुंडरिक राजा की पौषधशाला में औषधोपचार के लिये रहे हुए कंडरिक मुनि के चित्त मे रसनेन्द्रिय के रसभरपुर विषयो की आंधी उठी। अस्थिरता का झंझावात जाग उठा, संयम योगों की मेघघटा बिखर गई, मुनि का पतन हो गया।

क्या अपना भी ऐसा अनुभव नही है? परमपिता परमात्मा की भावपूर्ण हृदय से स्तवना चलती हो, उस समय आंखो के समक्ष कोई रुप सुन्दरी आगई, चित्त उसी में लीन हो जाता है, और अस्थिरता जन्म लेती है! बस, वहां परमात्म-भक्ति नष्ट!

चारित्रं स्थिरतारुपमतः सिद्धेष्वपीष्यते।
यतन्तां यतयोऽवश्यमस्या एव प्रसिद्धये ॥ ८॥

असंख्य आत्म-प्रदेशो की स्थिरता! सूक्ष्म भी स्पंदन नही, यह है सिद्ध भगवंतों का चारित्र। सिद्ध भगवंतो मे क्रिया-रुप चारित्र नही होता। क्रिया मे आत्मप्रदेश अस्थिर होते है, जबकि सिद्ध भगवंत का एक भी प्रदेश अस्थिर नही होता है। उनके सारे प्रदेश स्थिर होते हैं।

जिस साधक आत्मा का अंतिम लक्ष्य सिद्ध होने का है, उसको अपनी समस्त साधना के केन्द्र स्थान में 'स्थिरता' रखनी

चाहिये। इसलिए उसको तीनो योग क्रमश स्थिर करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। उनमे भी सर्व प्रथम पाप-प्रवृत्ति मे से काया, वाणी एव मन को निवृत्त कर लेना चाहिये। पाप प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त मन, वचन एव काया की अस्थिरता को दूर करने के लिए पुण्य-प्रवृति मे मन, वचन एव काया को प्रवत्तिशील (क्रिया शील) बनाना चाहिये। अलवत्ता पुण्यप्रवृत्ति मे भी वास्तविक आत्मस्वरुप की रमणतारूप स्थिरता नही है। फिर भी काया मे पुण्य कार्यों के लिए दौड धूप, वाणी से पुण्य का उपदेश एव मन से पुण्यप्रवृत्ति का मनोरथ योजना आदि सब करना पडता है। उससे आत्म-प्रदेश अस्थिर बनते है किन्तु यह अनिवार्य है। पाप-प्रवत्तियों मे मुक्त होने हेतु पुण्यप्रवृत्तियो के अलावा अन्य कोई मार्ग नही है। जैसे फुग्गे मे से वायु निकालने के लिए पानी भरना ही पडता है। 'पुण्य प्रवृत्ति मे भी अस्थिरता है, बाह्य भाव है, इसलिए यह भी वर्जित है।" यदि ऐसा मान लेगे तो अनादिकाल से पापप्रवृत्ति करने का अभ्यासवाली आत्मा तुर्त ही पापप्रवृत्ति छोड सकेगी ? क्या वह सीधा ही आत्म-स्वरुप की रमणता में २४ घटे व्यतीत कर सकेगा ? परिणाम यह होगा कि "पुण्य प्रवृत्तियो म अस्थिरता है।" इसलिये जीव पुण्य प्रवृत्ति को अपनाएगा नहीं, शुद्ध स्वरुप में रमणता कर सकेगा नही, केवल पाप प्रवृत्ति मे ही फसा रहेगा।

पाप प्रवृत्ति से मुक्त होकर, पुण्य प्रवृति म प्रवृत्त होकर विशुद्ध आत्म स्वरुप मे रमणतारुप स्थिरता का लक्ष्य रखकर साधक को अपना जीवन जीना है।

४ : अमोह

अहं-ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत् ।
अयमेय हि नञ्पूर्वः प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥१॥

अन्ध मनुष्य को पथभ्रष्ट होते देर नहीं लगती । फिर भी जिसकी बाह्य आंखों पर अन्धापन है वह तो प्रतिदिन के अभ्यास द्वारा मार्ग पर सीधा चल सकता है, परन्तु जिसके अन्तर चक्षु पर अन्धापन छा गया है वह सरल एवं सीधे सन्मार्ग पर नही चल सकता ।

जीव की आंतरचक्षु पर यूंही अन्धापन नहीं छा गया है, उन पर मंत्रप्रयोग किया हुआ है । जीव स्वयं ही अपनी अन्तर-चक्षुओ पर मन्त्रप्रयोग करता है । मोहराजा के पास से उसे यह मंत्र मिला हुआ है, मोहराजा ने जीव को यह समझाकर मंत्र प्रदान किया है कि "जब तक यह मंत्र तूं रटता रहेगा तब तक जगत के रमणीय सुख तूं प्राप्त कर सकेगा, पास रख सकेगा एवं भोग सकेगा ।' बाह्य सुखो के पिपासु जीव को यह बात पसन्द आ गई, मंत्र का स्वीकार कर लिया । "अहं मम" । रात और दिन, गांव और वन मे, घर में और दुकान मे, मंदिर मे और उपाश्रय मे, सर्वत्र इस महामंत्र को रटता वह भटक रहा है, अनादि काल से भटकता रहा है । इस मंत्र के प्रभाव से उसकी दिव्य दृष्टि मन्द हो गई है, इसलिए वह मोक्ष मार्ग नही देख सकता ।

भटकता-भटकता जीव चारित्र-धर्मरूप महाराजा के द्वार पर पहुच जाता है । परम कृपालु चारित्र धर्म महाराज के पास वह अपने तन-मन के दुख दूर करने की प्रार्थना करता है ।

"जीव, तुझे यदि अपने तन मन के कष्ट दूर करने है, तो एक काम करना पडेगा'

"क्या प्रभु ? '

"मोह का दिया हुआ मत्र "अह-मम" "मैं व मेरा" भूल जाना पडेगा ।

"पर इस मत्र को तो मैं अनत काल से रटता आ रहा हू । मेरी आत्मा के प्रदेश-प्रदेश मे उसका नाद उठ रहा है अब उसे भूलने मे मैं समर्थ नही हूँ ।"

'ले यह दूसरा मत्र, उसे जपना शुरु कर । तू मोह का मत्र भूल जायेगा ।

चारित्रधर्म महाराज ने प्रेम-पूर्वक उसे यह मत्र दिया "नाह न मम" 'मैं नही, मेरा नही"

'शुद्धात्मद्रव्यमेवाह, शुद्धज्ञान गुणो मम' ।
'नान्योऽह न ममान्ये' चेत्यदो मोहास्त्रमुल्बणम्॥१॥

'मैं श्रीमत नही हूँ मैं रूपवान नही हूँ, मैं पिता नही हूँ, मैं मनुष्य नही हूँ, मैं माता नही हू मैं गुरु नही हूँ, मैं शरीर नही हू मैं सत्ताधीश वकील या डाक्टर नही हू । फिर मैं कौन ? मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हू ।"

धन मेरा नही, रुप मेरा नही, माता मेरी नहीं, सत्ता मेरी नही, पत्नी मेरी नही, स्वजन मेरे नहीं, शरीर भी मेरा नही...... है । फिर मेरा क्या है ? शुद्ध ज्ञान, केवलज्ञान मेरा है, मैं उससे भिन्न नही हूं, अभिन्न हूं।"

यह भावना मोह को छिन्न-भिन्न कर देने वाला तीव्र शस्त्र है । 'मेगाटन' वम है। इसका अर्थ यह है कि शुद्ध आत्म-द्रव्य की प्रीति, आत्म द्रव्य से भिन्न पुद्‌गलास्तिकाय की प्रीति तोड़ने मे समर्थ है । अतः आत्मतत्त्व के साथ प्रीति बांधो। जहा पुद्‌गल तत्व है, वहां से प्रीति तोडो । ज्यो ज्यो आत्म-तत्त्व से प्रीति दृढ होती जायेगी त्यो त्यों पुद्‌गल-प्रीति शिथिल होती जायेगी । परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि आत्म-तत्व पर प्रीति वाँधने के साथ पुद्‌गल पर या पुद्‌गल के गुण पर प्रीति न हो जाय ! केवल शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही प्रीति करना है। इसलिए सर्व प्रथम तो हमे अपने शुद्ध आत्म-द्रव्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये व उसके लिये "मैं शुद्ध आत्म-द्रव्य हूं"। यह जाप वार वार कर पर-पर्यायो मे की गई अपनेपने की वुद्धि को समाप्त कर देनी चाहिए। शरीर एवं शरीर के रुप-रंग को देख कर आसक्त होने की वृत्ति को नेस्तनाबूद कर देनी है । मोह को पराजित करने के लिए अपने को ग्रंथकार महर्षि शस्त्र एवं मंत्र दोनो सौपते हैं । हमे उन दोनों को लेकर मोह पर आक्रमण करना है, युद्ध करना है। हाँ, युद्ध करना है ! युद्ध मे तो शत्रु के भी प्रहार सहने ...पडते है, परन्तु इस भय से हम शत्रु के शरणागत नही वन सकते । शत्रु का एक प्रहार तो हमारे दस प्रहार ! एक ही निश्चय कर लड़ना है कि 'अंतिम विजय हमारी है।'

मनुष्य जीवन ही आत्मा का वास्तविक युद्ध क्षेत्र है। जिस मैदान ने अनेक नरवीरो को मोह के सामने विजयी बनाया है। मोह पर विजय दिलाने वाले शस्त्र व मत्र अपने पास है। फिर डरना किसलिये ?

यो न मुह्यति लग्नेषु भावेष्वौदयिकादिषु ।
आकाशमिव पङ्केन नासौ पापेन लिप्यते ॥३॥

मोह की माया का भी कोई पार नही। मोह के साथ युद्ध मे जिसे भी विजय प्राप्त करनी है उसे मोह के इस माया जाल का पूरा खयाल कर लेना चाहिये। जिसे मोह की माया जाल का पक्का खयाल आ गया, वह उस जाल म फसेगा नही। शत्रु के मायाजाल को मायाजाल समझ लेने के पश्चात् उस पर मनुष्य मोहित नही हो सकता है।

मोह ने विश्व पर औदयिक-भाव का मायाजाल अजीब प्रकार मे बिछा रखा है। अज्ञान, असयम, असिद्धता, छ लेश्याए, चार कषाय, तीन वेद, चार-गति एव मिथ्यात्व, माया जाल के ये २१ मुख्य अग हैं। इसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव की जाल मे भी जीव फस जाता है। परन्तु क्षायोपशमिक भाव के सब अग फसाने वाले नही है। हाँ, यदि बेध्यान रहें तो फिर फसना ही है। दान लाभ भोग उपभोग, और वीर्य की लब्धिओ, मति-अज्ञान, श्रुत अज्ञान एव विभग ज्ञान वगैरह म फसते देर नही लगती।

ऐसे अशुभ भावो मे जो जीव नही फसता मोह उसे शुभ भावो में फसाने का प्रयत्न करता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, देशविरति, सर्वविरति, उपशम समकित-चारित्र

आदि मे निमग्न रहने वाले जीव ने भी यदि आसक्ति एवं राग-द्वेष किया तो समझिये कि वह मोह के जाल में फंस गया। उस जाल को तोड़ने के लिये सूक्ष्म मति एवं महान् युद्धकौशल हो तभी वह जाल तोड़ा जा सकता है।

बात एक ही है कि मोह कैसे भी बाह्य-अभ्यतर आकर्षण हमारे सामने उपस्थित करें, हमे उन पर मोहित नही होने का! बस, फिर मोह कुछ नही कर सकता। जैसे कोई मनुष्य आकाश को मलिन करने कीचड़ उछालें, उससे आकाश मलिन नही हो सकता है, वैसे ही मोह कितना ही कीचड़ उछालें, जो आत्मा राग-द्वेष नही करती उसको कीचड़ स्पर्श भी नही कर सकता। आत्मा पापों से प्रभावित नही हो सकती। अराग और अद्वेष के बख्तर को मोह के तीव्र तीर भेद नहीं सकते।

पश्यन्नेव परद्रव्यनाटकं प्रतिपाटकम्।
भवचक्रपुरस्थोऽपि नामूढः परिखिद्यति ॥४॥

मोहराजा ने भवनगर की गली २ में औदायिकादि भावों का जाल बिछा दिया है। अनन्तानन्त जीव, जो भव नगर की गली २ मे भरे पडे है, वे मोहराजा के जाल मे फंसकर विविध प्रकार की चेष्टाएँ कर रहे है। बिचारे उन जीवों को मोहराजा के जाल का भेद ज्ञात नही! जन्म, यौवन, जरा और मृत्यु मे हर्ष एवं शोक मनाते घोर खेद एवं क्लेश अनुभव कर रहे है।

भवनगर में-भवचक्र मे रहने वाली आत्मा कि जिसकी मूढता खत्म हो गई एवं औदायिकादि भावो के प्रति जो उदासीन हो गई है, हालांकि मोह की नाट्यभूमि पर अभी भी उसको अभिनेता

अभिनेत्री बनकर रहना पड रहा है, फिर भी अब उसमे अपने एव दूसरो के जीवन के प्रसगो को देखने की दृष्टि मे आमूल-चूल परिवर्तन हो जाने से वह सब घटनाओ को मोह-प्रेरित नाटक' के रूप मे ही देखती है। उससे उसे हर्ष विषाद का अनुभव नही होता है।

समस्त ससार को नगर की उपमा दी गई है। नरकगति, मनुष्यगति, तिर्यचगति एव देवगति ये चार गति ससार रूपी नगर की चार मुख्य गलिया है। इन गलिया मे भी अवान्तर गलिया रुप चार गतियो के अनेक भेद है। इन गली मे जो अनन्त अनन्त जीव रहे हुए हैं, वे नाटक के पात्र है। उनकी विविध चेष्टाये उस नाटक का अभिनय है। उस अभिनय का सचालन मोह-राजा कर रहा हैं।

नाटक मे जैसे जन्म का प्रसग बताया जाता है परन्तु वास्तव मे जन्म नही होता है। मृत्यु का प्रसग बताया जाता है पर वास्तव मे मृत्यु होती नही है। अत द्रष्टा भी इस वास्तविकता को जानने की वजह से जन्म से हर्षित एव मृत्यु से शोकाकुल होकर रदन नही करता। उसी प्रकार ससार के नाटक मे भी जीवो के जन्म एव मृत्यु आदि प्रसग देखने मे आते हैं, परन्तु ज्ञानी दर्शक समझता है कि वास्तविक मे न आत्मा जन्मती है न आत्मा मरती है। वह स्वय भी तो अभिनय करती है। फिर किस लिये हर्ष शोक करना चाहिये ?

निकल्पचपकैरात्मा पीतमोहासवोऽह्यम् ।
भवोच्चतालमुत्ताल-प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥५॥

ससार शराब घर है।
मोह शराब है।

विकल्प शराव-पान करने का प्याला है।

अनन्त अनन्त काल मे अपनी आत्मा संसार मे बुरी तरह भटक रही है। पौद्‌गलिक सुखो के विकल्प, मोह से छलाछल भरे विकल्प कर करके जीव उन्मत्त हो गया है। एक क्षण ताली वजा-वजा कर नाचता है, दूसरे ही क्षण छाती पीट २ कर रुदन करता है। एक पल वह सुन्दर वस्त्र पहनकर वाजार में फिरता है, दूसरे ही पल वस्त्रविहीन वनकर गटर मे लोटता है।

एक क्षण पूर्व पिताजी.... पिताजी करता गले मे चिपकता है व प्रेमभरी चेष्टा करता है, दूसरे ही क्षण उसी पिता पर दंडा लेकर टूट पडता है। क्षण पहले जो 'मेरा पुत्र मेरा पुत्र' कर स्नेह से भीज जाता है वह दूसरे ही क्षण वाघीन वनकर उसका चमडा चीर डालती है। सुवह जो 'मेरे प्राणप्रिय नाथ' करती प्रगाढ आलिंगन देती है, दोपहर को 'दुष्ट' एवं 'चांडाल' कहती गालियां वोलती है।

मोह-मदिरा का नशा! वैषयिक सुखों की तीव्र तमन्ना! उसमे जीव कैसा उन्मत्त, विवेकशून्य एवं व्यवहारभ्रष्ट वनकर संसार मे भटकता है, यह स्वस्थ चित्त से चिन्तनीय वात है। जव तक मोह-मदिरा का त्याग नही किया जाय और विकल्पों के मदिरा पात्रों को फेक नही दिया जाय तव तक निर्विकार ज्ञानानंद में स्थिरता नही आ सकती। जव तक ज्ञानानंद मे स्थिर न वन सकें तव तक परमब्रह्म मे मग्न नही वन सकते। परम ब्रह्म की मग्नता के विना पूर्णता......आत्मस्वरुप की पूर्णता ......अनन्तगुणों की पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकते।

स्थिरता के पात्र मे ज्ञानामृत का पान करने वाली आत्मा ही विवेकी, विशुद्ध-व्यवहारी और धर्मपरायण वन सकती है।

निर्मल स्फटिकस्यैव सहज रूपमात्मन. ।
अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥६॥

स्फटिक रत्न के पीछे लाल कागज रखा हो, स्फटिक रत्न लाल दिखता हो, वहा आपसे कोई प्रश्न करे 'स्फटिक कैसा है?' इस प्रश्न का उत्तर आप क्या देगे ? क्या आप कहेगे 'स्फटिक लाल है ?' नही, आप कहेगे स्फटिक लाल दिखता है किन्तु लालिमा तो उपाधि है, मूल रूप से स्फटिक लाल है ही नही'।

भला, क्या आत्मा अपने मूल रूप से एकेन्द्रिय है ? बेइन्द्रिय है ? पचेन्द्रिय है ? कालापन, पीलापन, गोरापन क्या आत्मा का मूल रूप है ? मोटापन, दुबलापन, ऊँचाई वगैरह क्या आत्मा का असली स्वरूप है ? क्या आत्मा के स्वरूप मे हर्ष-शोक, सुख दुःख ऊँचता नीचता है ?

स्फटिक मे लालीमा या पीलापन आदि देखकर जो स्फटिक को लाल या पीला मानता है, वह मनुष्य जैसे मूर्ख हैं, वैसे ही आत्मा को एकेन्द्रिय पचेन्द्रिय आदि मान लेने वाला मूर्ख है। आत्मा को काली या गोरी मान लेना जडता है।

आत्मा मे काला रूप या कद्रूपी आकृति देखकर उस पर अरुचि द्वेष होता है, आत्मा म गौर वर्ण एव सुडौल आकृति देखकर राग होता है व रुचि होती है, यह द्रष्टा की मूर्खता है, जडता है। यह विचार नही करता कि आत्मा तो निर्मल स्फटिक रत्न जैसी है, आत्मा के स्वरूप मे नही है काला गोरा रूप, नहीं हैं सुडौल या बेडौल आकृति। यह सब तो कर्म के प्रभाव से है। आत्मा पर कर्म की छाया है। याने आत्मा म रहे हुए कर्म के विभिन्न प्रतिबिम्ब है।

मोहदृष्टि को फोड़ देने वाला यह चिंतन विशुद्ध आत्म-स्वरूप का चिंतन कितना शक्ति शाली है ! कितना प्रभाव सम्पन्न है ! यह तो जब प्रयोग करने में आये तब ही अनुभव हो सके । यह सब मात्र बातें करने के विषय नहीं है, जीवन में रचनात्मक रूप से पुरुषार्थ करने की वस्तु हैं । तभी पर-स्वरूप को स्व-स्वरूप मानने की मूर्खता दूर होगी ।

अनारोपसुखं मोहत्यागादनुभवन्नपि ।
आरोपप्रियलोकेषु वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ॥७॥

वीतराग सर्वज्ञ भगवान् द्वारा उपदिष्ट योग-मार्ग पर प्रगति कर रहे योगी, वीतराग देव की अनन्य कृपा से जब मोह का क्षय-उपशम करते हैं अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्म के प्रभाव को क्षीण कर देते है तब आत्मा के स्वभाविक सुख का अर्थात् कर्मोदय से अमिश्रित सुख का रसास्वादन करते हैं ।

ऐसे स्वभाविक सुख के अनुभवी महात्मा के समक्ष जब ऐसी प्रजा उपस्थित होती है कि जिस प्रजा पर मोहनीय कर्म का असाधारण प्रभाव है, तब उनके समक्ष क्या बोलना, यह एक प्रश्न बन जाता है । न तो वे स्वयं स्वाभाविक सुखों का अनुभव करते हुए भी प्रजा के समक्ष कह सकते है, न तो प्रजा जिसे सुख मान रही है उसे वे सुख कह सकते है । उन्हें आश्चर्य होता है कि इस प्रजा को क्या कहना ? और कैसे समझाना ? जो लोग मात्र बाह्य पौद्गलिक सुखो मे ही सुख मानते हैं उनके समक्ष स्वाभाविक सुख के अनुभव की बात हास्यास्पद बन जाती है। आत्मसुख का अनुभवी पौद्गलिक सुखों को सुखरूप वर्णन नही कर सकता। चूंकि उस योगी की दृष्टि को पौद्गलिक सुख अर्थात् कर्मोदय से प्राप्त सुख मात्र दुःखरूप

दिखते है। उन सुखो मे उसे केवल दु ख, क्लेश, खेद एव बुराई ही दृष्टिगोचर होती है और उसका परिणाम भी उसे दुर्गति रूप ही नजर आता है।

यहा हम कुछ महत्वपूर्ण मार्ग दर्शन मिलता है

१ मोहनीय कर्म का क्षयोपशम किये बिना आत्मा का स्वाभाविक सुख अनुभव मे नही आयेगा।

२ ऐसे स्वाभाविक सुख का अनुभवी योगी सासारिक (वैभाविक) सुखो मे दु ख का ही दर्शन करता है। उन्हे कदापि सुख नही मानता।

३ जगत के बाह्य सुखो मे लीन प्राणी जो आत्मसुख की बात नही सुनते उनके प्रति खेद नही करना किन्तु करुणा का भाव रखना।

४ आत्म सुखो की अनुभवी आत्मा का बाह्य सुखो मे परिभ्रमण करते जीवो के साथ सबध नही हो सकता।

यश्चिद्दर्पणविन्यस्तसमस्ताचारचारुधीः ।
क्व नाम स परद्रव्येऽनुपयोगिनि मुह्यति ॥८॥

अपने समस्त अवयवो को दर्पण मे देखकर मनुष्य अपनी सुन्दरता का आनन्द अनुभव करता है और सुन्दरता बढाने हेतु, टिकाने हेतु और सुन्दरता द्वारा सुख का अनुभव करने हेतु वह बाह्य दुनिया मे जाता है और मोहित होता है।

जो मनुष्य अपने तमाम अभ्यतर अवयवो को ज्ञान के दर्पण मे देख कर अपनी सुन्दरता को समझता है, उस सुन्दरता

मानसरोवर में क्रीड़ा करते राजहंस जैसी उसकी उन्नत अवस्था देखने में आयेगी।

साधक आत्मा को इस प्रकार अपना सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिये कि 'मैं ज्ञानी हूं या अज्ञानी ?' इसका उसे स्वत- आत्म-साक्षी से निर्णय करना चाहिए। यदि उसे अपनी आत्मा अज्ञानता से परिपूर्ण लगे तो ज्ञानदशा का विकास करने हेतु पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। जब तक केवलज्ञान प्राप्त न हो तब तक !

निर्वाणपदमप्येकं भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः ।
तदेवज्ञानमुत्कृष्टं निर्बंधो नास्ति भूयसा ॥२॥

हमारा यह आग्रह नहीं है कि आप ज्यादा ग्रन्थ पढ़े। हमारा वह भी आग्रह नही है कि आप वास्तविकताओं का विशाल भंडार इकट्ठा करले। हमारा तो एक आग्रह है कि निर्वाण साधक एक ही पद, एक ही ग्रन्थ या एक ही प्रकरण का सुक्ष्मता से गहराई मे जाकर अध्ययन करो, उसमें तल्लीन हो जाओ, चित्त मे पुनः पुनः उसका ही चितन करो। मुक्ति की तरफ ले जाने वाला एक भी चिंतन यदि आपके चित्त मे व्याप्त हो गया, वही सच्चा ज्ञान है, वही उत्कृष्ट ज्ञान है। ज्ञान को उत्कृष्ट-श्रेष्ठ बनाने के लिये निम्न चार बातें महत्वपूर्ण हैः

१. ग्रंथ को हाथ मे से छोड़ने के पश्चात् भी ग्रथोक्त तत्त्व का परिशीलन चित्त मे चलते रहना चाहिये।

२. ज्यो ज्यों उस तत्त्व का परिशीलन होता जाय त्यों त्यो तत्वोपदेशक परमकृपालु वीतराग भगवंत के प्रति प्रीति-भक्ति, गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता का भाव, तत्वमार्ग की तरफ अपूर्व आकर्षण हृदय मे उल्लसित हो जाना चाहिये !

३ तत्त्व की परिभावना शास्त्रोक्त युक्तियो के सहारे करनी चाहिये आगमोक्त शैली अनुसार करनी चाहिये, अर्थात् युक्तिविरुद्ध एव आगमविरुद्ध तत्त्वभावना नही करनी चाहिये।

४ ज्यो ज्यो तत्त्वचिंतन की प्रगाढता चित्त मे बढती जायेगी त्यो त्यो कषायो की धमधमाहट शान्त होने लगे, सज्ञाओ की बुरी आदते कम होने लगे, रस-ऋद्धि व शाता का उन्माद मन्द होने लगे।

मापतुष मुनि को गुरु महाराज ने निर्वाण साधक एक पद बताया 'मा रुष, मा तुष' "राग न करो द्वेष न करो।" बस, बारह वर्ष तक मुनि ने इस एक ही पद पर विचार किया, परिशीलन किया। उपर्युक्त चार बातो को ध्यान मे रख, इस 'मा रुष मा तुष' पद का खूब मथन किया। बारह वर्ष के अ त मे केवलज्ञान प्राप्त किया। एक पद के सतत परिभावन से निर्वाण को सिद्ध किया। 'मा रुष मा तुष" यह एक पद ही महा मुनि का उत्कृष्ट ज्ञान बन गया। चू कि उसके द्वारा उत्कृष्ट ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हुई।

चित्त का तत्त्वचिंतन मे विलीनीकरण करना, यही उत्कृष्ट ज्ञान है।

स्वभावलाभसस्कारकारण ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत् तथा चोक्त महात्मना ॥३॥

उसी का नाम ज्ञान है कि जो आत्मा को स्वरूप प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर दें। याने स्वरूप को पाने की वासना जाग्रत कर दे। वासना उसे कहते है कि जिस विषय की वासना जगी उसी का विचार एव उसी को प्राप्त करने का प्रबल पुरुषार्थ

जीव करता रहे। जिस व्यक्ति को तरुण स्त्री की वासना जाग्रत हुई उसके चित्त में उसी तरुणी के विचार चक्कर काटते रहते हैं। और उस तरुणी को प्राप्त करने का ही उसका पुरुषार्थ बना रहता है। ऐसी वासना किसने जाग्रत की ? तरुणी के दर्शन ने व तरुणीविषयक ज्ञान ने।

आत्मस्वरूप का ज्ञान होने के पश्चात् वह ज्ञान जीव को आत्मस्वरूप के विचारों में ही लीन करें व आत्मस्वरूप प्राप्त करने के लिए ही पुरुषार्थ करने को प्रेरित करें, ऐसा ही ज्ञान हमें चाहिये। ऐसा ज्ञान हमें नहीं चाहिये कि एक तरफ तो ग्रंथों पर ग्रंथों का अध्ययन होता जाय व दूसरी तरफ पर पुद्गलों की आसक्ति बढ़ती जाय, विषयवृद्धि और कषायवृद्धि होती जाय, रस-ऋद्धि एवं शाता की लोलुपता बढ़ती जाय।

भगवान सुधर्मास्वामी ने जंबूकुमार को ज्ञान दिया, उस ज्ञान ने जंबूकुमार में आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की वासना जाग्रत हो गई। खंधकसूरि ने ५०० शिष्यों को ज्ञान दिया, उस ज्ञान ने ५०० शिष्यों में आत्मस्वरूप प्राप्त कर लेने की वासना उत्तेजित कर दी। आत्मस्वरूप की प्राप्ति हेतु उन्होंने घाणी में कूद पड़ना पसंद किया.....निर्वाण हुआ और पूर्ण आत्मस्वरूप प्राप्त कर लिया।

वासना के पीछे मनुष्य क्या नहीं करता ? आत्मस्वरूप की वासना जाग्रत होने पर घाणी में पिस जाना दुष्कर नहीं, अग्नि में जल जाना मुश्किल नहीं, पर्वत के शिखर पर से झंपापात करना दुःशक्य नहीं, शरीर के खून मांस को सुखा देना दुष्कर नहीं, व शरीर की चमड़ी का विदारण करवा देना भी दुष्कर नहीं ! बस, वासना जाग्रत हो जानी चाहिये। ऐसी वासना जाग्रत करने

के लिए ही ज्ञान आवश्यक है। ऐसा ही ज्ञान उपादेय है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार का ज्ञान तो अधापन ही है। अर्थात् अज्ञान ही है। यही महात्मा पतञ्जलि का कथन है, जो कि सवमम्मत है।

वादाश्च प्रतिवादाश्च वदन्तोऽनिश्चितास्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद् गतौ ॥४॥

जिस शास्त्रज्ञान से अतरग राग-द्वेष पर विजय पाना है, बाह्य पार्थिव जगत् से आतरिक चेतनमय सृष्टि की ओर अग्रसर होना है, उसी शास्त्रज्ञान से हे जीव, तुम वाद-प्रतिवाद करने लग गये? वाद-प्रतिवाद कर राग-द्वेष की शरण मे चले गये? बाह्य जगत् के यश-अपयश मे फस गये?

भाई, तुम इतना तो विचार करो कि तुम्हारे पास जो शास्त्र है, क्या उसका अर्थनिणय तुमने कर लिया है? न तो आज केवलज्ञानी परम पुरुष हैं, न ही आज मन पर्यय-ज्ञानी, अवधिज्ञानी या श्रुतकेवली महात्मा है। अनन्तज्ञानी के रचे हुए शास्त्रो का तुम अल्प मति से समझने का दावा करते हो? तुमने किये हुए अर्थनिणय का ही सत्य-मानने की धृष्टता कर रहे हो? दूसरो के किये हुए अर्थनिर्णय को असत्य ठहराने हेतु वाद-विवाद करते हो? समझ लो कि तुम्हारी मति अल्प है व श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम मद है, ऐसी स्थिति मे तुम्हारे पास जो शास्त्रज्ञान है, वह अनिश्चित अर्थ वाला शास्त्रज्ञान है। ऐसे शास्त्रज्ञान के द्वारा भले ही तुम कितना वाद-प्रतिवाद कीजिये, तो भी तत्व का पार नही पा सकोगे। परिपूर्ण ज्ञानानद का अनुभव नही कर सकोगे। हाँ,

यदि वाद-प्रतिवाद में तुम्हारी विजय हुई तो इसका तुमको आनन्द तो मिलेगा, पर वह स्वाभाविक आनन्द नहीं है किन्तु वैभाविक आनन्द है, यह मत भूलिये ।

वाद-विवाद कर तत्त्व-साक्षात्कार के लिए दौड़ना, यह तो घाणी के बैल के समान दौड़ है । घाणी का बैल सुबह से शाम तक दौड़ता ही रहता है पर बारह घंटे बाद भी वह वहीं का वहीं ! हे आत्मन् ! यश की कामना की पट्टियाँ आंखों पर बांधकर वाद-विवाद करता तू दौड़ रहा है । पर जरा रुक कर आंखों पर से पट्टियाँ हटाकर देख कि आत्मस्वरूप का कितना नैकट्य स्थापित किया है ।

कर्म रूपी घांची ने तेरे गले पर धूंसरी डाली है, आंखों पर यश-लालसा की पट्टी बांधी है और तू एक ही चक्र में घूम रहा है । वाद-विवाद से मुक्त होकर शास्त्रज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की तरफ अग्रसर होना ही श्रेयस्कर है ।

स्वद्रव्य-गुण-पर्यायचर्या वर्या पराऽन्यथा ।
इति दत्तात्मसंतुष्टिर्मुष्टिज्ञानस्थितिर्मुनेः ॥५॥

'हे मुनि, अपने लिए आपने सारे ज्ञान का कौनसा रहस्य प्राप्त किया ? क्या आपकी आत्मा को वह रहस्य प्रदान कर परमसतुष्ट किया ?

पर-द्रव्य, पर-गुण, पर-पर्याय में परिभ्रमण.....अभि-रमण कर आत्मा परिश्रान्त बन गयी है । पर- मे किये गये अनन्त काल के अभिरमण से आत्मा को संतोष नही मिला है । उसका असतोष बढता ही गया है । अब उसको संतुष्ट करना आवश्यक है । यह भी नहीं भूलना चाहिये कि पर द्रव्य

गुण-पर्याय मे अनन्त काल तक आत्मा अभिरमण करती रहेगी तो भी सतोष नही मिलने वाला है । असतोष तीव्र होता जायगा ।

हे आत्मन्, तू अपने मे ही परिणति कर । तू शुद्ध आत्म द्रव्य है । अपने मे ही रमणता कर । अपने ही गुणो मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे लीन बन जा । तू अपनी वर्तमान अवस्था का एव तीन कालो की अवस्था का द्रष्टा बन । तेरे त्रैकालिक पर्याय विशुद्ध है, उन विशुद्ध पर्यायो मे परिणत हो जा । यही परिणति श्रेष्ठ एव उत्तम है ।

हे आत्मन्, पर-द्रव्य-गुण-पर्याय मे आसक्ति मिथ्या है । तुच्छ हैं, अत यह आसक्ति त्याग दे । शरीर मे, घर मे, धन मे रूप-रस-गध स्पर्श शब्द मे अत्र राग न कर । शरीर, घर एव धन वगैरह—पर पदार्थों की परिवर्तन-शील अवस्था मे राग-द्वेष न कर ।

इस प्रकार आत्मा को सतुष्ट करना व करते रहना यही मुनि का रहस्यज्ञान है । अर्थात् मुनि का दर्शन ज्ञान चारित्रमय आत्मा मे ही लीन रहना, यही मुनिजीवन का मुख्य कर्तव्य है । इसलिए उपर्युक्त भावना कि जो आत्मा को सबोधन कर बताई गई है, उसका बार-बार रटन करना जरूरी है । जैसे ही परपुद्गल मे चित्त जाने लगे वैसे ही तुरन्त इस 'मुष्टि-ज्ञान' याने सक्षिप्त रहस्यज्ञान से आत्मा को तृप्त कर राख दो ।

मोह का हनन करने के लिए यह रहस्यज्ञान अजन साधन है ।

अस्ति चेद् ग्रन्थिभिज्ज्ञानं किं चित्रैः तन्त्रयंत्रणैः ।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥६॥

जिस मनुष्य की आखो में ही ऐसा तेज हो कि जो तेज अन्धकार का विनाश कर सकता है, उसे दीप-मालिका से क्या प्रयोजन ? इसी प्रकार जिस आत्मा की मोह-ग्रन्थी नष्ट हो गई और जिसे आत्मस्वरूप का भान हो गया उसे फिर अनेक शास्त्रो का ज्ञान किस उपयोग का ?

घन राग द्वेष की परिणतिरूप ग्र थी के भेदने से आत्मा मे सम्यक्त्व का प्रकाश फैल जाता है, पर इस ग्र थी के विघटन हेतु कुछ शर्ते है

१ ससार-परिभ्रमण-काल मात्र अर्ध पुद्गलपरावर्त वाकी हो ।

२ आत्मा 'भव्य' हो ।

३ आत्मा पर्याप्त-सज्ञी पचेन्द्रियपने की स्थिति मे हो । तभी वह इस ग्र थी का भेदन करने मे शक्तिमान् होती है । ग्र थीभेदन होने के वाद सम्यक्त्व की भूमि पर रही हुई आत्मा मे विपयप्रतिभास ज्ञान नही टिक सकता । अर्थात् इह लोक एव परलोक के भौतिक पदार्थो मे जव-जव प्रवृत्ति होती है तव-तव उन पदार्थो को वह तात्त्विक दृष्टि से देखता है । पूर्ण ज्ञानी की दृष्टि से देखता है । अर्थात् 'क्या हितकर है व क्या अहितकर है' इसका उसे भान होता है । जव तक इहलोक एव परलोक के विपयो मे आत्मा को वास्तविक हितकारिता एव अहितकारिता

का आभास न हो तब तक ग्रंथीभेद नही हुआ व वह मिथ्यात्व की भूमि पर है, ऐसा ही समझना चाहिये।

जगत का कोई रूप, कोई रस, कोई गंध कोई स्पर्श या कोई शब्द अपने सामने आवे, अपने अनुभव मे आवे, तब हमें सोचना चाहिये कि 'वह हमारी आत्मा के लिए हितकारी है या अहितकारी ?' ऐसी विवेक-कला यदि हमे उपलब्ध हो गई, तो तत्त्वपरिणति एव भाव चारित्रकी प्राप्ति दूर नही है। आत्मपरिणति के पुन पुन अभ्यास से तत्त्व-परिणति वाला ज्ञान प्राप्त होता है। आत्म-परिणति (ग्रंथीभेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान) ज्ञान प्राप्त हो गया तो पीछे भिन्न-भिन्न प्रकार के शास्त्रो के वचन का कोई प्रयोजन नही। शास्त्रो का परिशीलन ग्रंथी-भेद करने के लिए तो करने का है, ग्रंथी-भेद हो जाने के पश्चात् ज्ञान का प्रकाश आत्मा में से सहज रूप में प्रभासित होता है।

मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद् ज्ञानदम्भोलिशोभित.।
निर्भय शक्रवद् योगी नन्दत्यानन्दनन्दने ॥७॥

इन्द्र को किसका भय ? जिसके पास बडे बडे गगन-स्पर्शी गिरिशृंगो को क्षण भर मे चूर-चूर कर देने वाला वज्र है, उसे भय किसका ? वह तो रमणीय स्वर्ग के नंदन कानन मे मग्न बनकर आनंद लूटता है। उसका चित्त निर्भय एव प्रशान्त होता है।

योगी को भय किसका ? जिसके पास प्रचंड जमा बड़ा मिथ्यात्वरूप या राग-द्वेषरूप हिमाद्रि के शिखरों को धराशायी करने वाला 'वज्र' है, जिसके पास 'ज्ञान-वज्र' है उसे भय किसका ? वह तो सुहावने आत्म-प्रदेश के स्वर्ग मे

आत्मानंद के नन्दनवन में निर्भय, निर्भ्रान्त चित्त से रमण करता, अपूर्व सुख का अनुभव करता है।

यहाँ मुनि को देवराज इन्द्र की उपमा दी गई है। जिस प्रकार इन्द्र वज्र को क्षण भर के लिये भी दूर नही करता उसी प्रकार मुनि को भी आत्मपरिणति रूप ज्ञान को क्षण भर के लिए भी दूर नही करना चाहिये। ऐसा गर्भित उपदेश यहाँ दिया गया है। प्रति क्षण यह ज्ञान-वज्र मुनि के पास ही रहना चाहिये। तभी मुनि निर्भय चित्त से आत्मसुख का अनुभव कर सकता है। भगवान महावीर ने अपने पट्ट शिष्य गौतम से कहा: 'समय गोयम ! मा पमायए' 'हे गौतम एक क्षण का भी प्रमाद मत कर'। इस उपदेश-वचन का रहस्यस्फोट यहाँ होता है। गोतम ! ज्ञान-वज्रको एक क्षण के लिये भी दूर करने की भूल मत करना। ऐसा कहकर भगवान ने सव मुनिवरों को आत्म-परिणति-रूप ज्ञान को प्रतिसमय सभाल कर रखने को समझाया। जैसे ही आत्म-परिणति को दूर किया राग-द्वेप एव मोह रूप असुरों का आक्रमण हुआ समझो।

यह असुर-गण मुनि को आत्मानन्द के नन्दनवन से वाहर निकाल कर पुद्गलानद के नर्क में धक्का देता है। मुनि अपनी सयमावस्था से भ्रष्ट हो जाते है व उनके चारों ओर भय, अशान्ति एवं क्लेश का नर्कागार बन जाता है।

पीयूषमसमुद्रोत्थं रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापक्षमैश्वर्यं ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥८॥

लोग कहते है कि 'अमृत समुद्र-मथन से पैदा हुआ है।' रसायनशास्त्री कहते है कि 'रसायन ओषध-जनित होता है।' राजा महाराजा मानते है कि 'ऐश्वर्य हाथी, घोड़े, सोना, चाँदी, वगैरह में रहा है।'

ज्ञानी महा-पुरुषों का कथन है कि ज्ञान अमृत होते हुए भी समुद्र में प्रकट हुआ नहीं है। ज्ञान रसायन होते हुए भी औषधि से बना हुआ नहीं है। ज्ञान ऐश्वर्य होते हुए भी उसे हाथी, घोडा, सोना, चादी, की अपेक्षा नहीं है। समुद्र से पैदा हुआ 'अमृत' मनुष्य को मृत्यु से नहीं बचा सकता। ज्ञानामृत मनुष्य को अमर बना सकता है। औषधि-जनित रसायन मनुष्य को व्याधि और वृद्धावस्था से बचा नहीं सकता, ज्ञान-रसायन मनुष्य को अक्षय यौवन प्रदान कर सकता है। हाथी, घोडा, एव सोना-चादी का ऐश्वर्य मनुष्य को निर्भय नहीं बना सकता, ज्ञानैश्वर्य जीव को सदैव प्रति समय निर्भयता अर्पण करता है।

फिर किस लिए भौतिक अमृत, रसायन व ऐश्वर्य की आकांक्षा करना ? किस लिए इसके पीछे तन, मन, धन की शक्ति एव श्रम व्यय करना ? किस लिये इनके पीछे ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, स्नेह, गृद्धि एव मूर्च्छा कर के पाप उपार्जन करना ? किस लिए इसके खातिर अन्य जीवो से वैर बाधना ? किस लिये महामूल्यवान मानव जीवन को नष्ट कर देना ? इस मानव जीवन को तो ज्ञानामृत, ज्ञान रसायन एव ज्ञान ऐश्वर्य प्राप्त करके उन्नत बनाना है। उसकी ही आकांक्षा करनी है। यही प्राप्त करने हेतु तन, मन, धन की सारी शक्तियां खर्च कर देनी हैं।

ऐसा ज्ञान प्रकट होता है आत्मा में से। और प्रकट करने के साधन हैं - देव-गुरु और धर्म की साधना। देव-गुरु की और धर्म की उपासना द्वारा ही आत्मा में से ज्ञान अमृत, ज्ञान-रसायन एव ज्ञान-ऐश्वर्य प्रकट होता है। उससे हमारी आत्मा परम तृप्त बनती है, परम आरोग्य को प्राप्त करती है व परम शोभा को धारण करती है।

विकल्पविषयोत्तीर्णः स्वभावालम्बनः सदा ।
ज्ञानस्य परिपाको यः स शमः परिकीर्तितः ॥१॥

कोई विकल्प नही ! ऐसी कोई कल्पना नही कि 'मै श्रीमत बनू, सत्ताधीश बनू ।' उसी प्रकार 'मै दान दू, मैं तप करू' ऐसे भी विकल्प नही । अब तो आत्मा को प्रतिपल प्रतिदिन अनन्त-विशुद्ध सौन्दर्य में ही रमण करना है। प्रतिपल, प्रतिदिन ।

यह है ज्ञान का परिपाक । आत्मपरिणति-रूप ज्ञान का परिपाक । आत्मा के शुद्ध अनन्त गुणमय स्वरूप का ही एक मात्र परिणाम । इसका नाम है शम, इसका नाम है समता योग । इस शम-समता की भूमि पर वही व्यक्ति पहुच सकता है कि जिसने अध्यात्म-योग, भावना-योग व ध्यान-योग की भूमिकाओं को पार कर लिया है । याने आत्मा उचित-वृत्ति बन गई हो, व्रतधारी बन गई हो, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावनाओं से भरपूर तत्व-चितन शास्त्र-परिशीलन-पूर्वक कर लिया हो, प्रतिदिन चित्तवृत्तियों का निरोध कर, अध्यात्म का निरतर अभ्यास कर कोई एक प्रशस्त विषय में लीन, स्थिर दीपक की तरह निश्चल बन गई हो व उसने उत्पात, व्यय व ध्रौव्यविषयक सूक्ष्म उपयोगयुक्त चित्त बना लिया हो, वही इस समता योग की प्राप्ति कर सकता है ।

समता-योगी शुभ विषय मे इष्टता व अशुभ विषय मे अनिष्टता की बुद्धि धारण नही करता है। उसकी दृष्टि मे तो शुभ व अशुभ दोनो विषय समान भासित होते है। 'यह मुझे इष्ट है यह मुझे अनिष्ट है'। ऐसा कोई विकल्प उसे नही होता है। 'यह पदार्थ मेरी आत्मा को हितकर है व यह पदार्थ मेरी आत्मा के लिये अहित-कर है।' ऐसा भी कोई विचार उसे नही होता है। वह तो प्रतिपल आत्मा के परम-विशुद्ध स्वरूप मे ही लीन बना रहेगा।

समता योगी शम-परायण आत्मा आमर्षोपधि वगैरह का उपयोग नही करती है। वह तो केवल ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षय करती है। अपेक्षातंतुका विच्छेद करती है। अर्थात् बाह्य किसी भी पदार्थ की उसे अपेक्षा नही रहती है। बाह्य पदार्थो की अपेक्षा तो बंधन का कारण है।

अनिच्छन् कर्मवैषम्य ब्रह्मांशेन सम जगत्।
आत्माभेदेन य. पश्येदसौ मोक्ष गमी शमी ॥२॥

'यह ब्राह्मण है, यह शूद्र है, यह जैन है, यह विद्वान् है, यह अज्ञानी है, यह श्रीमत है, यह गरीब है, यह कुरूप है।, ऐसे भेद समता-रस मे सर्वांगीण स्नान करने वाले योगी देखते नही। वह योगी तो सकल-विश्व को ब्रह्मस्वरूप देखता है। चैतन्य मे अभेद-भाव से देखता है।

शम-रस-लीन योगी चर्मचक्षुओ से जगत का अवलोकन नही करता। उसे जगत का अवलोकन करने की आवश्यकता भी नही रहती। वह तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे ही सारे विश्व को निहारता है। आत्मा से भिन्न विश्व उसको देखने का ही नही रहता।

ब्रह्म के दो अंश है . एक है द्रव्य और दूसरा है पर्याय। योगी ब्रह्म के द्रव्यांश को दृष्टि में रखकर ही तत्स्वरूप सारे विश्व को देखता है। आत्मा की संसार-कालीन भिन्न-भिन्न अवस्थाये पर्यायांश हैं। मनुष्यपन, पशुपन, देवपन व नारकपन, श्रीमंताई, गरीबी यह सब आत्मा के पर्याय है। पर्यायांश में भेद है। द्रव्यांश में अभेद है। इस प्रकार द्रव्यास्तिक नय से जो दर्शन होता है इसमें न तो राग होता है न द्वेष। राग-द्वेष-रहित दर्शन करता समता रस से भरपूर योगी अल्प काल में ही मोक्षावस्था को प्राप्त करता है।

श्री भगवद्गीता में भी कहा है :

विद्याविवेकसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥

अ. ५ श्लो. १८.

'समदर्शी ज्ञानीपुरुष विद्या-विवेक वाले ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में एवं चंडाल में कोई भेद नहीं देखते। वे तो इन सब में समानरूप से विद्यमान विशुद्ध आत्मद्रव्य को देखते है। न उनको ब्राह्मण पर राग होता है, न चांडाल पर द्वेष। न गाय पर प्रेम होता है, व न श्वान से तिरस्कार।' जीव की दृष्टि में जहां 'पर्याय' प्रधान बनता है वहा विषम दृष्टि आती है, जो अपने साथ राग व द्वेष को लेकर आती है।

आरुरुक्षुर्मुनिर्योगं श्रयेद् बाह्यक्रियामपि।
योगारूढः शमादेव शुद्धयत्यन्तर्गतक्रियः॥३॥

जिस मनुष्य के हृदय में समाधि योग प्राप्त करने की इच्छा जागृत हुई है वह मनुष्य प्रीति-अनुष्ठान, भक्ति-

अनुष्ठान और वचनानुष्ठान द्वारा अशुभ सकल्पो को दूर कर शुभ सकल्पमय आराधक भाव को सिद्ध करता है।

परमात्म-भक्ति, प्रतिक्रमण, शास्त्राध्ययन, प्रतिलेखन वगैरह परमात्म दर्शित क्रियाओ मे उस मनुष्य को कितना परमानन्द प्राप्त होता है? हिमगिरी के एवरेस्ट शृ ग पर पहुचने के लिए उत्सुक पर्वतारोहियो की उत्साह पूर्ण चहल पहल, आरोहण के लिये पूण तय्यारिया और सब भूल कर एक ही 'एवरेस्ट' विजय की तमन्ना व पुरुषार्थ! यह सब क्या हमे देखने को नही मिलता? समाधियोग के उत्तु ग शिखर पर पहुचने के लिए आकुल साधक का उल्लास, समस्त पौद् गलिक प्रलोभन एव खेल-तमाशो को छोडकर समाधि-योग के शिखर पर पहुचने की प्रवृत्ति, अनुष्ठानो मे परम प्रीति व भक्ति यह सब सहजरूप से दिखाई देता है। फिर स्वाभाविक है कि उसकी सारी प्रवृतिया शास्त्रोक्त-मार्गानुसारी ही हो। 'श्रीयोगविंशिका' मे पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'वचनानुष्ठान' की यह व्याख्या की है कि—

'शास्त्रार्थ-प्रतिसधानपूर्वा साधो सर्वत्रोचितप्रवृत्ति ।'

क्या 'एवरेस्ट' शिखर पर चढने वाला पर्वतारोही "एवरेस्ट-गाइड" का सम्पूर्ण अनुसरण नही करता है? क्रियाशील नही होता है? उसके लिए की गई क्रिया मे आनदित नही होता है? पर्वतारोहण की गाइड देने वाले के प्रति भाव-भक्ति से भीना नही होता है? समाधि-शिखर पर आरोहण करने हेतु भी यह सब जरुरी है।

समाधि शिखर पर पहुचने के बाद मुनि अतरग क्रिया वाला बनता है। वहाँ उपशम द्वारा ही वह विशुद्ध बनता है।

वहाँ उसे 'असंग अनुष्ठान' की भूमिका प्राप्त होती है। सांख्य दर्शन जिसे "प्रशान्त वाहिता" कहता है, बौद्ध दर्शन जिसे "विसभाग-परिक्षय" कहता है उसे जैन दर्शन "असंग अनुष्ठान" कहता है। यह अनुष्ठान करने में उसे शास्त्र का विचार नही होता है। यह तो जैसे चन्दन में सुगन्ध आत्मसात् होती है वैसे ही यह अनुष्ठान उसे आत्मसात् होता है। यह अनुष्ठान 'जिन कल्पी' वगैरह मे होता है।

ध्यानवृष्टेर्दयानद्याः शमपूरे प्रसर्पति ।
विकारतीरवृक्षाणां मूलादुन्मूलनं भवेत् ॥४॥

गंगा, यमुना, नर्मदा या तापी नदी की प्रलयकारी बाढ़ आपने कभी देखी है? किनारे पर खड़े-खडे वृक्षों का धरा-शायी होना आपने कभी देखा है? दया एवं करुणा की सिन्धु-सदृश सरयू में जब समताजल का प्रबल वेग आता है तब उसके किनारे पर खडे अनन्त काल से फूले फले भौतिक और पौद्गलिक वासनाओं के वृक्ष कड़ाके के साथ समूल उखड़ पड़ते हैं।

परन्तु इस नदी में पूर्ण वेग कब आता है? जबकि दीर्घ काल तक मूसलाधार वर्षा हो। आत्मप्रदेश पर दया करुणा की नदी वह रही हो और आत्म-प्रदेश पर धर्म-ध्यान की अन-वरत वर्षा हो रही हो तब समता-रस की बाढ आती है। बाढ़ का प्रबल प्रवाह वासना-वृक्षों को उखाड़ कर फेंक देता है।

करुणा की—जीव दया की नदी में समता रस की बाढ आती है। अतः सब जीवों के प्रति "सव्वे जीवा न हंतव्वा" याने जगत के सब जीवों को मारना नही, पीडा पहुचाना नही, ऐसी वृत्ति और प्रवृत्तिरूप करुणा आवश्यक है। करुणा की

धारा प्रवाहित होनी चाहिए। इसके अलावा दूसरी बात है ध्यान की। धर्म ध्यान की अनवरत धारा चलनी चाहिए।

अर्थात् तीसरा योग है ध्यान का। 'ध्यान स्थिरोऽध्यवसाय' 'श्री ध्यान-विचार' ग्रंथ में स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहा गया है। आर्त-रौद्र द्रव्य ध्यान है। आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचयरूप धर्मध्यान भाव ध्यान है। "पृथक्त्व वितर्क सविचार" रूप शुक्ल ध्यान का पहला भेद परम-ध्यान है।

श्री आवश्यक-सूत्र में मलयगिरि महाराज ने धर्म-ध्यानी के लक्षण बताये हैं —

'सुविदिय जगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो अ।
वेरग्गभावियमणो झाणमि सुनिश्चलो होई ॥'

जगत के स्वभाव से जो सुपरिचित हो, निस्संग हो, निर्भय हो, आकांक्षा-रहित हो व जिसका मन वैराग्य भावना से भावित हो, वही आत्मा ध्यान में निश्चल रह सकती है। ऐसी आत्मा जैसे जैसे धर्म-ध्यान करती जाती है वैसे वैसे उसकी रग-रग पूरित आत्मा में शम रस उभरता जाता है और विषय व उन्माद नष्ट हो जाता है।

ज्ञान ध्यान तपः शीलसम्यक्त्वसहितोऽप्यहो।
तं नाप्नोति गुणं साधुर्यमाप्नोति शमान्वितः ॥५॥

तप तपों का सर्वांगीण बोध है, चाहे वो हर प्रशस्त विचार व सदाचार परिणाम की धारा रहती है, प्रमादि-रहित अप्रमत्त साधकों के विशिष्ट तपश्चर्या है, तप

प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन है, जिनोक्त तत्वों पर हृदयपूर्वक श्रद्धा है, परन्तु यदि शम नही है, समता नही है, द्रव्यास्तिक नय से राग द्वेष से रहित होकर समस्त विश्व को पूर्ण चेतन्य-स्वरूप देखने की कला नही है तो आत्मा का शुद्ध अनन्त ज्ञानमय स्वरूप प्राप्त नहीं किया जा सकता । श्री 'प्रशमरति' मे भगवान उमास्वाती कहते हैं :

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।
तं न लभते गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ।२४३।।

स्वय समकिती होते हुए भी जो दूसरो को मिथ्यात्वी के रूप में देखते है, स्वय ज्ञानी होते हुए भी दूसरों को मूर्ख समझते है, स्वयं श्रावक अथवा साधु होते हुए भी दूसरो को मोहान्ध के रूप में देखते हैं, स्वय तपस्वी होते हुए भी दूसरो को (जो तप नही करते) घृणा की दृष्टि से देखते है, उनका चित्त क्रोध व अभिमान से अशान्त होता है। वे केवलज्ञान से सैकड़ों कोस दूर हैं। चार मुनिवरो को चार-चार महिने के उपवास थे, पर सवत्सरी के दिन खाने वाले "कुरगडू" मुनि के प्रति उन चारों तपस्वियों ने घृणा की तो वे अनुपशान्त बने, केवलज्ञान उनसे दूर रहा। पर उपशम-रस में लबालब कुरगडू मुनि संवत्सरी के दिन घडा भर भात (कूर) खाने वाले—उन्हे केवल-ज्ञान प्राप्त हो गया ।

वारह महिने तक निर्जन वन में, सब कष्टों को सहन कर अडिग खड़े रहने वाले बाहुबली में क्या ज्ञान नही था ? क्या ध्यान नही था ? क्या तप व शील नही था ? सब था। एक मात्र उपशम नही था, अतः केवल ज्ञान प्रकट नही हुआ । उपशम आते ही केवल ज्ञान प्रकटित होते देर नही लगी।

'उपशम आणो उपशम आणो, उपशम तप मांही राणो रे,
विण उपशम जिन धर्म न सोहे, जिम जग नरवर काणो रे'

स्वयम्भूरमणस्पर्द्धिवर्धिष्णुसमतारसः ।
मुनिर्येनोपमीयेत कोऽपि नासौ चराचरे ॥६॥

चराचर विश्व मे ऐसा कोई जड या चेतन पदार्थ नही है जिसकी उपमा समता योगी को दी जा सके । योगी के आत्म-प्रदेश पर समता-रस का जो महोदधि उछल रहा है वह "स्वयंभूरमण" नाम के अंतिम विराट-काय समुद्र से भी प्रतियोग करता है। समता महोदधि का विस्तार अनन्त होता है, गहराई भी अनन्त ! अब कहिए, स्वयंभूरमण महासागर इसके सामने कैसा लगता है ?

समता महोदधि निरन्तर बढता ही जाता है बढता ही जाता है । ज्यो २ समता रस बढता जाता है त्यो-त्यो मुनि अगम अगोचर सुख का अनुभव करता केवल्यश्री की निकटता करता जाता है। वह इस पार्थिव विश्व पर रहता हुआ भी मोक्षसुख का रसास्वादन कर लेता है।

जिस व्यक्ति की आत्म-गुणों मे ही तल्लीनता हो गई, पर-वृत्तान्त के लिए अन्धा, गूंगा और बहरा बन गया, मद-मदन-मोह, मत्सर, रोष और विषाद का जो विजेता बन गया, अपार अनन्त अव्याबाध सुखों की ही एक अभिलाषा जिसकी जाग्रत हो गई, और उसी जो सदर्भ मे सुस्थित है, उसे इस जगत मे किसकी उपमा दी जा सकती है ? ऐसे योगी के लिये तो यहां ही स्वर्ग है। श्री 'प्रशमरति' की बात सुना

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥२३८॥

'मद-मदन से जो अजेय है, मन, वचन, काया के विकारों से जो रहित है, पराई आशा से जो निवृत्त है, उन महात्माओं के लिये यहाँ ही मोक्ष हे । इसका तात्पर्य यह है कि समता रसका अनुपम सुख अनुभव करने के लिये, मद, और मदन पर विजय प्राप्त करने का भरसक पुरुषार्थ करना चाहिये । मन, वचन और काया के समग्र अशुभ विकारो को तिलाञ्जली दे देनी चाहिये । पर पदार्थों की आकांक्षा से पूर्णरुपेण निवृत्त हो जाना चाहिये । तो इसी जीवन में मनुष्य मोक्ष सुख के नमूने का रसास्वादन कर सकता है ।

शमसूक्तसुधासिक्तं येषां नक्तं दिनं मनः ।
कदाऽपि ते न दह्यन्ते रागोरगविषोर्मिभिः ॥७॥

समता रस से परिपूर्ण शास्त्र, ग्रंथ एवं सुभाषितों द्वारा जिन मनुष्यो का चित्त दिन रात सिंचित रहता है, उनमे राग-फणीधर का कातिल विष प्रवेश नही पा सकता । जो मनुष्य निरन्तर समता-रस-भरपूर ग्रंथो का ही परिशीलन करता रहता है उसके चित्त में भौतिक विषयों की आसक्ति, रति, और स्नेह की विह्वलता नही आ सकती । चार-चार महीने तक कोश्या गणिका सोलह शृंगार सजकर स्थूलभद्रजी के सामने नृत्य करती रही पर स्थूलभद्रजी को राग फणिधर का एक भी डंक नही लगा । क्यो ? उपशम रस से भरपूर शास्त्र-परिशीलन मे निमग्नता थी । महीनो तक पट्रस के मादक भोजन करने के पश्चात् भी मद-मदन का एक भी तीर स्थूल

भद्रजी को स्पर्श न कर सका। क्या वजह? हाथ और मुह भोजन का काम करते थे पर मन समता योग के सागर की सफर की मस्ती में था।

इन्द्रियां जब अपने-अपने विषय में व्याप्त हो जाय, तब मन सहयोगी न बने, मन उपशमरस के परिभावन में ही लीन बना रहे, बस, फिर राग-द्वेष जीव का कुछ भी नहीं बिगाड सकते। इसलिए सर्वप्रथम तो मन को उपशमपोषक ग्रंथो के अध्ययन मे एव पुन पुन परिशीलन मे लीन रखना चाहिये। अध्ययन व परिशीलन के समय इन्द्रियो के अतिप्रिय विषयों से सम्पर्क तोड देना चाहिये। बल पूर्वक भी इन्द्रियो को उन विषयों से अलिप्त रखना चाहिए। इस प्रकार एक बार दीर्घ काल तक विषयो का ससर्ग छूट जाने से व दूसरी तरफ उपशमरस पोषक ग्रथो का परिशीलन-चिंतन चलता रहने से मन उपशमरस मे ही बारबार डुबकियाँ लगाता रहेगा। फिर यदि अनिवार्य-रूप से जो विषयसपर्क रखना पडेगा उसमे राग-द्वेष अपना किंचित् भी प्रभाव नहीं डाल सकेंगे।

राग के खेल मे भी समता का आभास होता है। हा सावधान रहना, उस आभास मे मत फसना। वह समता नहीं है। सिर्फ समताभास है। बाह्य पदार्थो की अनुकूलता मे मनुष्य शान्ति व समता मान लेने की भूल करता है। उसकी वह समता व शान्ति बनावटी होती है, भ्रष्ट होते देर नही लगती।

गर्जज्ज्ञानगजोत्तुङ्गरङ्गद्ध्यानतुरंगमा ।
जयन्ति मुनिराजस्य शमसाम्राज्यसपद ॥८॥

'मुनिराज!' कैसा प्यारा नाम है! कर्णप्रिय और मनोहर! मुनिराजा का विशाल साम्राज्य आप जानते हैं? 'शम, उपशम समता' उनका साम्राज्य है। मुनिराजा अपने इस

राज्य की खूब सावधानी से सुरक्षा करते हैं। इनके साम्राज्य की सीमा में राग-द्वेष जैसे जगत को धुजाने वाले शत्रु भी पैर नही रख सकते है, ऐसी इन मुनिराजा की जबर्दस्त धाक है।

अपने मुनिराजा की सेना भी बडी पराक्रमी है। हाँ, उन्होंने मात्र दो सेना रखी है। अश्व-सेना व हस्ती सेना। इन दो सेना पर मुनिराजा निर्भय और गौरवान्वित है। 'ज्ञान' उनकी हस्ति सेना है और 'ध्यान' उनकी अश्व सेना है। ज्ञान गजराज की सेना की दिगंतव्यापी गर्जनाएं और ध्यान-अश्व की सेना की हिन-हिनाहट मुनिराजा के साम्राज्य में सदैव आनन्द एव प्रसन्नता प्रदान करती रहती हैं। शम-साम्राज्य का विजय-ध्वज निरंतर फहराती रहती है।

मुनि जीवन का कैसा सुरम्य एवं सुरेखांकित चित्र पूज्य उपाध्याय जी महाराज ने यहाँ प्रदर्शित किया है! मुनि को आपने राजसिंहासन पर विराजित कर "मुनिराजा का साम्राज्य जय-विजयत हो।" का नारा लगाया और फिर प्रेम-भरी वाणी से मुनिराज को कान में कह दिया कि 'मुनिराजा! आप अब बन गये राजा! अब आप अपने उपशम साम्राज्य के राजा! हाँ, उसकी अच्छी रक्षा करना जो'! मुनिराजा को घबराते देखकर उन्होंने अपने चेहरे पर मुस्कराहट बिखेर कर उनसे कहा कि 'मेरे राजा! तुम्हारे पास दो सेनाए महान् है...... ..डरते हो किस लिए? ज्ञान और ध्यान, गज सेना व अश्व सेना। गज सेना की गर्जना सुनते ही वे डकैती राग और द्वेष आपके राज्य की सीमा में पैर भी नही रख सकेंगे। अश्व सेना के अश्वों पर बैठकर तुम तुम्हारे खेलते ही रहना. .बस!'

समता योग की रक्षा मुनिराज ज्ञान ध्यान द्वारा कर सकते हैं। ज्ञान-ध्यान द्वारा ही मुनि समता योग की भूमिका को टिका सकते हैं, अन्यथा नही। यही तात्पर्य है।

७ : इन्द्रिय जय

निमेपि यदि समारान्मोक्षप्राप्ति च काङ्क्षमि।
तदेन्द्रियजय कर्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥१॥

क्या आप ससार से भयाक्रान्त हैं? चार गतियो मे जीव की हो रही घोर विडबना से क्या आप त्रस्त हो गये है? ससार के विचित्र मोहमयजाल बाध २ कर क्या आपको अकुलाहट हो रही है? विषय-विवशता एव कषायपरवशता मे क्या आप सर्वनाश महसूस करते है? क्या आपको ऐसे भयावह ससार से मुक्त होना है? मुक्त होने की भावना से नही चलेगा, वासना जाग्रत हो गयी है? पिंजरे मे बद शेर की पिंजरे से मुक्त होने की वासना आपने देखी है? उसकी उखाड पछाड देखी है? ससार के पिंजरे से मुक्त हो कर मोक्ष मे जाना है? मोक्ष की अनत-कालीन स्वतत्रता प्राप्त करने की तमन्ना है? मोक्ष की अनन्त गुणसमृद्धि चाहिए? अनत-ज्ञान और अनत दर्शन प्राप्त करने की तमन्ना है? तो आपको एक महान् पुरुषार्थ करना पडेगा। हा, आप भाग्य के भरोसे नही रह सकते। काल का बहाना नही कर सकते। भवितव्यता के सिद्धान्त को एकान्त रूप से ग्रहण नही कर सकते। आपको तो मन, वचन, और काया से कठिन पुरुषार्थ करना होगा। आराम को हराम करना पडेगा।

आप अपनी पाच इन्द्रियो पर नियत्रण कर अमर्यादित इच्छाओ का निग्रह करे। शब्द वगैरह विषयो की जो भी इच्छा जाग्रत हो, उसे पूर्ण मत करे। उसे पूर्ण करने का विचार भी

मत करें । हा, उस इच्छा को पूर्ण नही करने का सकल्प करें । इच्छा को पूर्ण नही करने में यदि कोई कष्ट उत्पन्न हो तो उसे हँसते २ सहन करे । दुःख को सहन करने की शक्ति का विकास करे। शब्द, रूप, रस, गध, एव स्पर्श के सुखो को भोगने की व उनके द्वारा आनन्द-प्रमोद प्राप्त करने की अनतकालीन पुरानी आदतो का त्याग करने के लिए निश्चित लक्ष बनाकर तप-त्याग, ज्ञान-ध्यान, भक्ति आदि का पुरुषार्थ जीवन में प्रारंभ कर दे ।

"ससार-मुक्ति" एव 'मोक्ष प्राप्ति' के लिए इन्द्रियविजय का पुरुषार्थ अनिवार्य है ।

वृद्धास्तृष्णाजलापूर्णैरालवालैः किलेन्द्रियैः ।
मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ति विकारविषपादपाः ॥२॥

इन्द्रिऐ क्यारिऐ है । इनमें लालसा अर्थात् विषय-स्पृहा का पानी भरा जाता है। क्यारी मे सस्कार रूप से पडे हुए विकार-बीज विकास पाते है। बड़े २ वृक्ष बन जाते है। विकारो के इन विष-वृक्षो की छाया मे जो कोई प्राणी जाता है मोह से मूच्छित हो जाता है।

क्यारी में बीज पड़ा हो, पर उसे यदि पानी नही देगे तो बीज अकुरित नही होगा।उसमे से वृक्ष नही बन सकता है । मनुष्य पांच इन्द्रिय व मन लेकर जन्मता है। उसी समय से इन्द्रिय रूप क्यारी मे मन रूपी डोल द्वारा विषय स्पृहा का पानी सीचना शुरु कर देता है। जैसे २ मनुष्य बडा होता जाता है वैसे २ इन्द्रिय क्यारी में विकारों के पौधे भी बढ़ते जाते है, और यौवन के आते २ तो वे विकारो के वटवृक्ष बन जाते है।

मनुष्य इन विष-वृक्षों के नीचे पडा रहता है। मोह की प्रगाढ मूर्च्छा उस पर छा जाती है। इसका मन बेहोश हो जाता है। इसके मुंह मे से जैसे तैसे शब्द निकलते है। उसका शरीर विषय भोग के बाजार मे लडखडाने व भटकने लगता है।

जीव जैसे २ इन्द्रियो को मनोवाछित विषय दे दे कर पुष्ट करता जाता है वैसे २ आत्मा मे दुष्ट एव मलीन विचार पुष्ट होते जाते है। वैसे २ मोह का प्रभाव दृढ होता जाता है। उसके मन, वचन एव काया, तीनो विवेकभ्रष्ट होते जाते हैं। वह अनेक प्रकार के दु ख एव अशान्ति का भोग बन जाता है। उस दु ख व अशान्ति को दूर करने के लिए पुन इन्द्रियो की विषयस्पृहा परिपूर्ण करने की चेष्टा करता है। दु ख व अशान्ति घटने के बजाय अधिकाधिक बढ जाती है। और अन्त मे दारुण दु ख व घोर अशान्ति के प्रहार सहन न कर सकने से वह काल के मुंह मे जा पडता है। नर्कादि दुर्गतियो मे भटकता हो जाता है। विकारो के विष-वृक्षो से बचना हो तो उन्हे विषय-लालसा, विषय-आकाक्षा का पानी सीचना तत्काल बद कर देना चाहिये। मन का उपयोग विषयो के सिंचन मे न कर कल्पवृक्ष समान सम्यग्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र का सिंचन करने मे करने की पूर्ण आवश्यकता है।

सरित्सहस्रदुष्पूरसमुद्रोदरसोदर ।
तृप्तिमानेन्द्रियग्रामो भव तृप्तोऽन्तरात्मना ॥३॥

गगा-यमुना जैसी हजारो नदिया सागर के उदर मे नियमित रूप से गिरती जाती है। फिर भी क्या सागर को तृप्ति हुई ? क्या उसने कभी नदियो से कह दिया कि "बस बस, तुमने मुझे तृप्त कर दिया है, अब तुम्हारी जरूरत नहीं है।"

नही। और अभी अनंतकाल तक भी समुद्र तृप्त होने का नही है। चूंकि अतृप्त रहना उसका स्वभाव ही है। ऐसे ही इन पाच इन्द्रियो का स्वभाव भी अतृप्ति का है।

इन्द्रियों का उदर भी सागर के समान अनत गहराई वाला है। अनतकाल से जीव अपनी इन्द्रियों को संतुष्ट करने के लिए पौद्गलिक विषय अर्पित करता आया है। तब भी इन्द्रियो ने कभी इन्कार नही किया! वर्तमान जीवन पर ही दृष्टिपात करिये न! दिन गए, मास गए, एव वर्ष गए, आपने इन्द्रियो को क्या सुगध, मनोहर शब्द, अनुपम रूप, मजेदार रस व स्पर्श, अर्पित नही किये? किन्तु आज व इस महीने में पुनः इन्द्रियाँ ऐसी भूखी है। इतना ही नही, गये काल, गये महीने, व गये वर्ष से आज इस महीने व इस वर्ष इन्द्रियों की भूख ज्यादा बढ गयी है। चूंकि इन्द्रियो का यह स्वभाव है कि उनको अनुकूल विषय जैसे २ प्राप्त होते जाएगे वैसे २ ये इन अनुकूल विषयों की अधिकाधिक आकाक्षा करती जाती है। हा, अल्पकाल के लिए क्षणिक तृप्ति अवश्य होगी, किन्तु उस क्षणिक तृप्ति की पहाडी में अतृप्ति का लावा-रस वुद-वुदाहट करता रहता है।

आपको तृप्त होना है? क्या ऐसी तृप्ति चाहिये कि जिसमें पुन: अतृप्ति के लावारस में 'ॐ स्वाहा' न होना पडे? तो इन्द्रियों को विषय अर्पित कर तृप्त करने के बजाय अन्तरात्मा द्वारा तृप्त करने का प्रयोग शुरु करो। सच्ची समझ के द्वारा, सम्यग् विवेक के द्वारा अप्रशस्त विषयों से इन्द्रियों को दूर कर देव-गुरु-धर्म की प्रशस्त आराधना में इन्द्रियों को रसलीन बना दो। देव-गुरु के दर्शन मे, सम्यग् ग्र थो के श्रवण में, परमात्मा के पूजन में व महापुरुषो की

स्तुति में अपनी इन्द्रियों को क्रियाशील कर दो। दीर्घ काल तक ऐसी क्रियाशीलता रहने से इन्द्रियां एक दिन अवश्य परम तृप्ति का अनुभव करने वाली बन जायगी।

आत्मानं विषयैः पाशैर्भववासपराङ्मुखम् ।
इन्द्रियाणि निबध्नन्ति मोहराजस्य किंकरा ॥४॥

इन इन्द्रियों को आप कोई सामान्य व्यक्ति नहीं समझें। देखने में भले ही ये सीधी-सादी लगें, पर ये आपकी वफादार नहीं हैं। कतई नहीं हैं। मोहसम्राट की ये आज्ञाकारी सेविकाएं हैं। मोहसम्राट इन अति-कुशल एवं वफादार सेविकाओं द्वारा अनन्त जीव-राशि पर अपना राज्य चला रहा है।

जो प्राणी सांसारिक जीवन से व मोह के साम्राज्य से विमुख होकर धर्मराजा की तरफ अग्रसर होते हैं, उन्हें ये इन्द्रियां बीच में ही पकड़ लेती हैं, व पुनः मोह के साम्राज्य में खींच कर ले जाती हैं। अपने जादुई पाश में ये जीव को इतने सुन्दर तरीके से फंसाती हैं कि जीव यह समझ ही नहीं सकता कि मैं इन्द्रियों के जादुई पाश में बंध गया हूं। वह भ्रम में रहता है कि धर्मराजा के साम्राज्य में हूं।

'विषयाभिलाष' इन्द्रियों का जादुई-पाश है [illegible] जाता है। इन्द्रियां जीव को विषयाभिलाषी बनाती हैं। इसे [illegible] तरीके से [illegible] विषयाभिलाषी बनाती हैं। 'शरीर और [illegible] का धर्म [illegible] शरीर [illegible]'। धीरे-धीरे जीव को इन्द्रियां ही यह [illegible] पढ़ा देती हैं। यह शरीर की [illegible] के प्रकार स्पर्शादि विषयों की [illegible]

जाता है। "तुम तपस्वी हो इससे क्या हुआ? तपश्चर्या के पारणे में यदि घी, दूध, और माल-मसाला इस्तेमाल नही किया तो तपस्या नही कर सकोगे"। इन्द्रियों की यह राय भद्र जीवों को रुचिकर लगती है। और वे सासारिक विषयो के अभिलापी वन जाते है। "तुम ज्ञानी हो इससे क्या? वस्त्र उजले रखो, शरीर को स्वच्छ रखो, तप कम किया करो, तो तुम्हारा प्रभाव दुनिया पर पडेगा।" सरल जीव को इन्द्रियों की यह सलाह प्रिय लगती है। वह विषयों की आकाक्षा करने लग जाता है।

इस प्रकार जीव मोह के वधन से वंधता जाता है। वाह्य रुप से धर्म-क्रिया करता हुआ भी आन्तरिक मोह वासना से वह घिर जाता है। इसलिये ससार वासना से मुक्त होने क अभिलापा वाली आत्मा को इन्द्रियो के विषय-पाश से खूव सावधान रहना चाहिये।

गिरिम्रृत्स्नां धनं पश्यन् धावतीन्द्रियमोहितः।
अनादिनिधनं ज्ञानं-धनं पार्श्वे न पश्यति ॥५॥

इन्द्रियों के विषयो में आसक्त जीव की कैसी मूर्खता है कि जो धन नही उसे वह धन मानता है और जो वास्तविक धन है उसे वह देखता भी नही है! नजदीक होने पर भी याने विल्कुल पास होने पर भी वह उसे देखता नही।

सोना व चादी कि जो केवल पर्वत की मिट्टी है, उसमें उसे सम्पत्ति दिखती है। और उसे लेने हेतु वह दौड-धूप कर रहा है। दूर से उसे जो सम्पत्ति लगती है, वह सम्पत्ति जव उसके पास आती है तो उसकी सुख-शान्ति चली जाती है।

फिर वह सम्पत्ति कि जो मिट्टी से कुछ भी ज्यादा नही है, उसको सुरक्षा व सवर्धन मे, दिन प्रतिदिन वह मनुष्य अशान्त बनता जाता है।

जरा ज्ञान-धन की तरफ भी दृष्टिपात करो। उसे भी बाहर लेने जाने की आवश्यकता नही है। अनादिकाल से वह आपके ही पास है। पर वह धन गडा हुआ है। उस पर कर्मो के पर्वत खडे हो गये हैं। इन पहाडो को तोड फोड कर ज्ञान-धन का अनत भडार प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना ही हितकर है। जैसे २ आप उन पहाडो को तोडते जायेंगे वैसे-वैसे आपको ज्ञान-धन मिलता जायेगा। और आप अपूर्व सुख शान्ति का अनुभव करते जाओगे। पर यह पुरुषार्थ आप तभी कर सकेंगे कि जब आप इन्द्रियो के विषयो मे मोहित नही बनेंगे। विषयासक्ति आपको ज्ञान-धन प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं करने देगी। इतने दिन तक यदि जीवो ने ज्ञान धन प्राप्त करने का पुरुषार्थ नही किया, उसमे इन्द्रिय-वशता ही असाधारण कारण है। ज्ञान-धन (श्रुत-ज्ञान) प्राप्त करने के पश्चात् भी यदि जीव इन्द्रिय-परवश बना तो वह ज्ञान धन पुन अदृश्य हो जाता है। श्रीमान् भावदेवसूरि जी ने कहा है—

'जई चउदसपुव्वधरो निद्दाई पमायाओ वसई निगोए अणतय काल।'

—यतिदिनचर्या

चौदह पूर्वधर महर्षि भी यदि निद्रा, विकथा व रस-ऋद्धि-शाता गारव वगैरह मे आसक्त हो जाय तो उनको अनत काल तक निगोद मे रहना पडता है। अत जब तक

केवल-ज्ञान प्राप्त न हो तब तक जरा भी इन्द्रियपरवश बनना भयप्रद है, हानिकारक है। इसलिए निरंतर जागृति एवं सतत ज्ञानधन की प्राप्ति का पुरुषार्थ करते रहना है।

पुरः पुरः स्फुरत्तृष्णा मृगतृष्णानुकारिषु ।
इन्द्रियार्थेषु धावन्ति त्यक्त्वा ज्ञानामृतं जडाः ॥६॥

कौन समझाये उस हिरन को ? "अरे भाई, तुम क्या देख कर दौड़ रहे हो ? वह पानी नहीं है, वह तो सूर्य की तेज किरणों की चमचमाहट है। वहाँ तुझे पानी नहीं मिलेगा, निष्प्रयोजन खेद-क्लेश एव परिश्रम होगा।" पर वह हिरन किसकी सुनता है ? वह तो मूर्ख है, दौड़ गया उस ऊजड़ एव विशाल रण-प्रदेश पर, उसे दूर तक पानी से भरा हुआ सरोवर दिखाई दिया।

वह वहां पहुंचा। क्या पाया ? पानी के स्थान पर धूल ! फिर उसने दूर दूर तक दृष्टि फैलायी....फिर पानी से भरा सरोवर दिखाई दिया, दौड़ा जाकर पानी पीने को मुंह डाला, लेकिन पानी है कहां ? गरम गरम धूल मुंह से छूते ही उसने मुंह उठा लिया .. हाय...फिर भी वह मूर्ख एवं जड हिरण....नहीं समझता कि इस रण प्रदेश मे मुझे पानी मिलने वाला नही है।

ससार के रण प्रदेश पर इन्द्रियों के विपयो की पिपासा मे दौड रहे जीव को कैसे समझाया जाय ? ज्यो ज्यो जीव इन्द्रियो के विपयों के पीछे दौड़ता जाता है उसकी तृष्णा बढती जाती है। क्लेश एव खेद बढता जाता है। फिर भी जीव यह नही समझता कि इस ससार में इन्द्रियजन्य सुखो में मुझे तृप्ति होने वाली नहीं हैं। यह जड़ता है। यही मूर्खता है अज्ञानता है।

श्री उमास्वाती जी ने "प्रशमरति" मे ऐसे मूर्ख जीवो को फटकार दिया है

'येषा विषयेषु रतिभवति न तान् मनुष्यान् गणयेत् ।' 'जिसे विषयो में आसक्ति हो उसे मनुष्य नही गिनना चाहिये ।' इसका अर्थ यह है कि मनुष्यजीवन पाकर जीव को इन्द्रियो के विषयो मे आसक्ति नही करनी चाहिए, राग नही करना चाहिये। इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त रहने के भव दूसरे है। मनुष्य भव नही ! मनुष्य भव मे तो ज्ञानामृत का पान करना है। ज्ञानामृत मे ही तृप्ति का आनन्द अनुभव करने का है। जैसे २ ज्ञानामृत के घूट भरते जाओगे वैसे २ तुच्छ अशुचिपूर्ण और असार वैषयिक सुखो के पीछे भटकाव घटता जायगा। इन्द्रियो के विषयो की तृष्णा घटती जायेगी।

पतङ्गभृङ्गमीनेभसारङ्गा यान्ति दुर्दशाम् ।
एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद् दुष्टैस्तै' किं न पञ्चभि' ॥७॥

देखिए, एक २ इन्द्रिय की परवशता ने जीवात्मा की कैसी करुण दुर्दशा की है ? पतगे को दीपक की ज्योति का रूप बहुत प्यारा लगता है । वह ज्योति के आसपास हर्ष से नाचता है, खूब नाचता है। ज्योति के प्रति उसका प्यार तीव्र बनता है, चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उत्पन्न रूपप्रीति, रूपमोह पर पतग का वश नहीं रहता है और वह दीपक की ज्योति को आलिगन करने दौड पडता है। ज्योति के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से आलिगन करता है । पर उस आलिगन ने उसे अमृत नही दिया, अग्नि दीप मे पतगा जलकर खाक हो जाता है।

वह भोला भ्रमर ! सुगन्ध के पीछे दीवाना भ्रमर। बस, सुगध मिली कि सब कुछ भूल जाता है। परन्तु सन्ध्या के समय जब कमल सकुचित हो जाता है और वह दीवाना भ्रमर उसमे

वद हो जाता है तब उसकी घोर वेदना आँखो से निहारने वाला वहाँ कोई नही होता। इस अभागे को उसी वेदना में ही जीवन पूर्ण करना होता है। दूसरे दिन प्रभात में कमल के पत्ते खुलते ही उसके प्रेमी की देह भूमि पर लुढक जाती है। पर कमल को क्या परवाह है! तुरन्त ही दूसरा प्रेमी आकर उस पर बैठ जाता है। वह प्रेमी अपने पूर्व प्रेमी की तरफ दृष्टि-पात भी नही करता—यही तो दिवानापन है। रसनेन्द्रिय के वश ही प्रसन्नता अनुभव करने वाली मछली को जब वह मछुआ काटे से बींध कर बाहर निकालता है, जाल में समेट कर उन्हें पत्थर पर पटकता है, घर ले जाकर उसे छुरी से चीरता है, और फिर गर्म २ तैल में तलता है, तब उसकी कैसी दुर्दशा? स्पर्शेन्द्रिय के सुख में भान भूला होने वाले गजेन्द्र को भी इस सुख के कारण ही मौत के शरण मे जाना पडता है और मधुर स्वर को श्रवण करने के शौकीन हिरण को शिकारी के तीक्ष्ण बाणों का शिकार होना पड़ता है।

इन बेचारे जीवों को एक-एक इन्द्रिय की परवशता होती है, फिर मनुष्य तो पाचों इन्द्रियों के परवश होता है! उसकी दुर्दशा कैसी? एक पल के लिए भी आत्मप्रसन्नता का सुख नही।

विवेकद्वीपहर्यक्षैः समाधिधनतस्करैः।
इन्द्रियैर्यो न जितोऽसौ धीराणां धुरि गण्यते ॥८॥

उसका नाम धीर पुरुषों में भी वीर! उसका नाम वीर पुरुषो मे भी वीर! भयकर गर्जना करते कराल काल जैसे केसरी सिह को सामने आता हुआ देखकर भी जिसका रोआ भी न कांपे......ऐसी उसकी धीरता! कालमुख केसरी भी जिसके मुख मंडल की वीरता देखकर दूसरा रास्ता पकड़ ले, ऐसी उसकी वीरता!

एक २ इन्द्रिय एक २ भयानक सिंह है। एक २ इन्द्रिय कुटिल निशाचर है। आपके आत्मा के आगन मे झूलते विवेक रूपी हाथी का शिकार करने ये पाच प्रचड सिंह आत्म-भवन के इद गिर्द चक्कर लगा रहे ह। आपके आत्म महल मे खचाखच भरे समाधि-धन को और ध्यान धन को उठाकर ले जाने के लिए ये दुष्ट निशाचर छिद्रान्वेषण कर रहे है। ये सिंह हैं ये पाच इन्द्रिया। ये चोर है ये पाच इन्द्रिया। बात एक है इन्द्रिया को उनके प्रिय विषयो मे न जाने द। 'मुझे इन्द्रिय-जन्य सुख नही भोगना है।' ऐसा दृढ निश्चय करें। विषय आपके सामने आये, इन्द्रिया विषयो की तरफ आकर्षित हुई, और मन ने उन्हें सहारा दिया, बस, यही तुम्हारी पराजय है। आपका विवेक ज्ञान खत्म हो गया, आपकी निर्विकल्पक-समाधि का तार टूट गया। आप पराजित एव पराश्रित हो गये। हा, जब विषय सामने आये तब उनके सामने देखने का अवकाश ही इन्द्रियो को न दो, सहारा देने मे मन को रस ही न हो, तब आप विजेता हैं, स्वाश्रयी हैं।

विषयो के वियोग में इन्द्रिया जब व्यथित न हो, परमात्मपरायण बन कर विषयो को बिल्कुल विस्मृत कर दिया हो और मन भी जब इन्द्रियो को परमात्म-ध्यान में सहयोग दें, तभी आप धीर पुरुषों में भी धीर बन।

दुनिया मे तो वह धीर कहलाता है कि जो अनुकूल विषयो के सयोग में परमात्म ध्यान, धर्म ध्यान वगैरह बाह्य क्रियाएँ करता है। पर ज्यो विषयो की अनुकूलता चली गई, त्यो धीरता भी चली गई। जान बूझ कर ही विषयो का त्याग कर इन्द्रियो को सविकल्पक निर्विकल्पक समाधि मे लीन करते हैं।

८ : त्याग

संयतात्मा श्रये शुद्धोपयोगं पितरं निजम् ।
धृतिमम्बां च पितरौ तन्मां विसृजतं ध्रुवम् ॥१॥

एक उत्तम स्थान को प्राप्त करने के लिए पूर्व का स्थान त्यागना पडता है । लोकोत्तर माता-पिता की अलौकिक एव वात्सल्यमयी गोद में खेलने के लिए लौकिक माता-पिता का त्याग किये वगैर कैसे चलेगा ? हा, त्याग द्वेप या तिरस्कार से नही करने का है, परन्तु लोकोत्तर माता-पिता के प्रति तीव्र आकर्पण के कारण करने का है । आइये, इन ममता भरे माता-पिता से विनति करे । अपने को उनके वन्धन में से मुक्त करे इसलिए उनके चरणों में गिर कर प्रार्थना करे ।

'हे माताजी, व पिताजी स्वीकार करते है कि आपका हमारे पर स्नेह है, परन्तु मजवूर है कि हम आपके स्नेह का प्रत्युत्तर स्नेह से नही दे सकते । हमारे हृदय-गिरि में से स्नेह एव ममता का झरना परम पिता "**शुद्ध आत्म-ज्ञान**" की तरफ प्रवाहित हो गया है । हमारा आनन्द-"**आत्मरति माता**" के दर्शन मे व उनके उत्सग मे ही समाविष्ट हो गया है । इन माता-पिता के पास जाने को हमारा हृदय व्याकुल है, अव उनके सन्मुख ही मन, वचन एव काया के योग काम कर रहे है । हमें आज्ञा करे.....उन परम माता-पिता के पास जाने की । 'शुद्ध आत्म-ज्ञान' पिता है और 'आत्म रति' माता है । इन माता-पिता की

ही सच्ची शरण लेनी है। इन माता-पिता के प्रति ही राग-स्नेह एवं ममत्व करना फलदायक है।

माता-पिता करना माने क्या करना ? मात्र पिता मानने से ही नहीं चलेगा। दिन-रात इन माता-पिता की सेवा-उपासना व भक्ति में तत्पर रहना है। इन दोनों के प्रति वफादार बना रहना है। अर्थात् शुद्ध आत्म ज्ञान को छोड़ कर अशुद्ध अनात्म ज्ञान की गोद में जाकर बैठने की आदत छोड़नी है। आत्मरति आत्मानंद ज्ञानरति इस महामाता को त्याग कर पुद्गलरति-वेश्या का संग करने की कुटेव छोड़नी ही पड़ेगी।

युष्माकं सङ्गमोऽनादिर्बन्धवोऽनियतात्मनाम् ।
ध्रुवैकरूपान् शीलादिबन्धूनित्यधुना श्रये ॥२॥

जैसे नये माता-पिता तो बना लिए, वैसे नये भाई भी बनाने पड़ेंगे। बाह्य स्थूल जगत के भाईयों से संबंध तोड़ने के लिए आंतरिक सूक्ष्म भूमि पर रहे हुए भाइयों से संबंध जोड़ना ही पड़ेगा।

बाह्य जगत में बन्धुत्व का सम्बन्ध कितना अस्थिर है। आज जो भाई है कल वह शत्रु! आज जो शत्रु है वह कल भाई! संबंध की कोई स्थिरता नहीं है। ऐसे संबंध बना २ कर जीव ने प्रगाढ़ रागद्वेष किया, पाप किये, दुर्गतियों में पड़ा। पर अब इस मानव-जीवन के ज्ञानोज्ज्वल प्रकाश में आंतरिक बन्धुओं के साथ ही संबंध करना जरूरी है। अनादि-काल के सम्बन्ध तोड़ना आवश्यक है।

"हे वन्धुओ, अनादिकाल से आपके साथ सबध बाधे, मगर उसमें न तो था आपसे निस्वार्थ स्नेह, नही थी उसमे पवित्र दृष्टि। भौतिक स्वार्थो के वश होकर मैने आपको 'भाई भाई' कहा, पर जैसे ही मेरा स्थार्थ-भग हुआ, मैने आपको शत्रु माना, शत्रु रूप देखा और शत्रु मानकर आचरण किया। स्वार्थ लोलुपता में मैने आपका वध किया, आपका घर भी लूटा, सच ही है कि इस ससार में स्वार्थवश हो मनुष्य दूसरे प्राणियो के साथ निस्वार्थ संबध नही वांध सकता। हे भाइयों, अव तो मैने शाश्वत अनत ऐसे शील, सत्य, शम, दम, संतोष आदि गुणो को ही मेरे वधु वनाए है।"

आत्मा के शील सत्यादि गुणों के साथ वन्धुत्व किये विना वाह्य जगत का वास्तविक त्याग नही हो सकता। वाह्य जगत का त्याग करना माने हिसा, झूँठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, माया व लोभ आदि दोषों का त्याग करना। इनका त्याग करने हेतु अहिसा, सत्य, अचौर्य, शील, निप्परिग्रहता, क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभिता आदि गुणों का स्वीकार करना पड़ता है। इन्ही का ही आश्रय लेकर जीवन जीना पड़ता है। फिर जीवन के प्रश्न हल करने हेतु क्रोधादि कपाय का आश्रय नही लेना होगा। न हिसादि पापों की शरण में जाना होगा।

कान्ता मे समतैवैका ज्ञातयो मे समक्रियाः।
बाह्यवर्गमिति त्यक्त्वा धर्मसन्यासवान् भवेत् ॥३॥

"मेरी प्रियतमा अव एक ही समता है। अव में उसी का ही वफादार रहूँगा। उसको धोखा कभी नही दूंगा। आज दिन तक मैने इसके साथ वेवफाई की इस पतिव्रता सुशीला

स्त्री को छोडकर ममता के वेश्या गृहो में भटकता रहा, खूब भटका । ममता, स्पृहा, मूर्च्छा, कुमति वगैरह वेश्याओ के सहवास मे मने दिन के दिन, महीने के महीने व वर्ष के वर्ष व्यतीत किये । मोह-मदिरा का प्याला पर प्याला भर २ कर उन वैश्याओ ने मुझे पिलाया । में वेहोश (मूर्च्छित) हो गया तब उन स्वार्थी वेश्याओ ने मुझे लूट लिया । मेरे तन, मन, धन को चूस लिया । मैं मोह-मदिरा के नशे से जाग्रत हुआ । मैं पुन उन वेश्याओ के पास जाने लगा तो मेरे पर इन वेश्याओ के नौकर डडा लेकर मुझे मारने को दौड पडे । मुझे मार कर बाहर निकाल दिया गया । हाय, फिर भी मेरे हृदय से में उन वैश्याओ को भुला नही सका ।

पुन तन, मन, धन ठीक होते ही मैं इनके द्वार पर पहुँच गया । उन्होने मेरा सत्कार किया पर पुन वे ही मोह-मदिरा के प्याले, पुन मूर्च्छा और पुन ताडन । बस, अब काफी हो गया, अब मैंने इन ममता वगैरह वेश्याओ को तिलाजली देदी है । नमता को ही मेरी प्रियतमा बनाई है । उसके सहवास मे मुझे शान्ति है, सुख है व प्रसन्नता है । जगत के सगे-सम्बन्धियो को भी मैंने देख लिये । उनका अनुभव पा लिया, क्षण मे रुष्ट, क्षण मे तुष्ट! केवल स्वार्थ की ही साधना! बहुत हो गया, अब उनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । मैंने मेरे सम्बन्धी व स्नेही उनको बनाये हैं कि जो कभी वैषयिक हर्ष विषाद नही करते । उनके पास तो है केवल सब जीवो के प्रति मंत्री और करुणा ! वे है निग्रन्थ साधु पुरुष । ये ही सब अब मेरे सगे हैं, सम्बन्धी है, स्नेही है ।"

इस प्रकार बाह्य परिवार का त्याग कर जीव औदयिक भावो का त्यागी बनता है और क्षायोपशमिक भावो को

प्राप्त करता है। औपशमिक भावों में रमणता का नाम ही तो ससार है। जब तक उस रमणता का वास्तविक त्याग न किया जाय तब तक संसार के त्यागी नही बन सकते।

धर्मास्त्याज्याः सुसंगोत्थाः क्षायोपशमिका अपि।
प्राप्य चन्दनगन्धाभं-धर्मसंन्यासमुत्तमम् ॥४॥

सन्त-समागम से 'क्षायोपशमिक' धर्म आत्मा में प्रकट होते है। परमात्मा के अनुग्रह से और सद्‌गुरु की कृपा से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवल ज्ञान प्रकट होता है। श्रावकत्व एव साधुता की प्राप्ति होती है। दान, लाभ, भोग उपभोग और वीर्य की लब्धियो का आविर्भाव होता है। प्रशस्त निमित्त का अर्थात् अच्छे आलम्बनो का जीव पर कितना अजीब प्रभाव पड़ता है! जैसे पारसमणि का स्पर्श होते ही लोहा सोना बन जाता है। वैसे ही देव-गुरु के समागम से मिथ्यात्व, कषाय, अज्ञान, असंयम वगैरह औदयिक भावों से मलिन जीव समकित, सम्यग्ज्ञान, सयम वगैरह गुणो से स्वच्छ एव सुशोभित बन जाता है। क्षायोपशमिक धर्मो की भी आवश्यकता तभी तक है जब तक क्षायिक गुणों की प्राप्ति नही हुई है। क्षायिक गुण ही आत्मा का मूलस्वरूप है। मूलस्वरूप प्रकट होने के पश्चात् क्षायोपशमिक गुणो की क्या आवश्यकता है? मंजिल पर पहुँचने के बाद सीढी की क्या जरूरत? औदयिक भावो के भूमितल से क्षायिक भाव के महल पर पहुँचने के लिए क्षायोपशमिक भाव सीढी के समान है। चन्दन की सुगन्ध जैसे चदन के साथ अभेद रूप से मिली हुई होती है, वैसे ही क्षायिक धर्म आत्मा में अभेद-रूप से विद्यमान है। क्षायिक ज्ञान दर्शन व चारित्र आत्मा मे सहज-

स्वरूप रहे हुये हैं। क्षायोपशमिक क्षमा आदि गुणों का त्याग हो जाना धर्मसन्यास है। यह तात्त्विक धर्मसन्यास सामर्थ्य-योग का धर्मसन्यास कहलाता है।

'द्वितियापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत।' योगदृष्टि समुच्चय ग्रन्थ में कहा गया है कि क्षायोपशमिक धर्म के त्यागरूप धर्मसन्यास आठवे गुणस्थान पर द्वितीय अपूर्वकरण करते समय होता है। सम्यग्दर्शन पाने के पूर्व जो अपूर्वकरण किया जाता है वह अतात्त्विक धर्मसन्यास है।

गुरुत्वं स्वस्य नोदेति शिक्षासात्म्येन यावता।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन तावत् सेव्यो गुरूत्तमः ॥५॥

जिस रीति से सांसारिक स्वजनों का त्याग करना है उसी रीति से आभ्यन्तर (आन्तरिक) स्वजनों का स्नेह सम्बन्ध स्थापित करना है। यह स्नेहसम्बन्ध टूट न जाय इस हेतु सदैव सद्गुरू की उपासना करनी चाहिये।

जिस प्रकार जब तक श्रीमन्त न बने तब तक श्रीमन्त की सेवा नहीं छोड़नी चाहिये, जब तक निरोगी न बने तब तक वैद्य डाक्टर को नहीं छोड़ना चाहिये, उसी प्रकार जब तक हमें संशय विपर्यासरहित ज्ञान का प्रकाश न मिले, जब तक शुद्ध आत्मस्वरूप की भारी प्राप्ति नहीं हो, तब तक ज्ञानी संयमी सद्गुरू का त्याग नहीं करना चाहिये। जब तक गुरुदेव की गुरुता का हमारे में सम्यग्-विनियोग न हो तब तक सतत विधिआदर पूर्वक गुरुदेव के पावन चरणों में विनयपूर्वक रहना चाहिये। गुरुदेव की परम कृपा से ही अपनी आत्मा में इनकी ज्ञानगुरुता आ सकती है। ज्ञानगुरुता का उदय उस जीव में होता है जिसने गुरुमहाराज से "ग्रहण शिक्षा" एवं

"आसेवन शिक्षा" विनयपूर्वक ग्रहण की हो व सम्यक् प्रकार से उस शिक्षा को आत्मसात् की हो।

पाचमहाव्रतों के सूक्ष्म स्वरूप को समझना, क्षमा, नम्रता मार्दव आदि दश यतिधर्मों की व्यापकता समझना, पृथ्वीकायादि षट्काय के स्वरूप को समझना यह सब ग्रहण-शिक्षामे आता है। सद्गुरु की कृपा से यह ग्रहण शिक्षा प्राप्त होती है। ग्रहण शिक्षा पाकर तदनुसार अपने जीवन मे उसका पालन करना, इसका नाम है आसेवन शिक्षा। गुरुदेव के अनुग्रह के बिना आसेवन शिक्षा ग्रहण नही की जा सकती।

ज्ञानगुरुता के बिना न तो केवलज्ञान हो सकता है न ही मोक्ष।

अत अपने चित्त मे सद्गुरु के सामने इस प्रकार दृढ संकल्प करिये.– हे गुरुदेव, आपकी कृपा से ही मेरे में गुरुता आयेगी। जब तक गुरुता नही आयेगी तब तक सूत्रोक्त विधि से व भक्तिभाव से मे आपकी सेवा एव उपासना करु गा।

ज्ञानाचारादयोऽपीष्टाः शुद्धस्वस्वपदावधि ।
निर्विकल्पे पुनस्त्यागे न विकल्पो न च क्रिया ॥६॥

शुद्ध संकल्पपूर्वक की गई क्रिया ही यथार्थ फलदायी बनती है। सद्गुरु के पास से 'ग्रहण' और आसेन शिक्षा लेते समय ज्ञानाचारादि आचारो का पालन मुख्यरुप से करना होता है। यह पालन शुद्ध संकल्पपूर्वक करना चाहिए।

ज्ञानाचार की आराधना तब तक करनी है जब तक ज्ञानाचार का शुद्ध पद केवलज्ञान प्रकट न हो जाय। यह श्रद्धा हृदयस्थ कर आराधना करनी चाहिये कि "ज्ञानाचार के

प्रमाद से अवश्य हो केवल ज्ञान प्रकट हो। दर्शनाचार की सेवा तब तक करने की है जब तक क्षायिक, समकित की प्राप्ति न हो। चारित्राचार की उपासना तब तक करने की है जब तक यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति न हो एवं तपाचार का सेवन तब तक करना है जब तक शुक्ल ध्यान की मस्ती जागृत न हो। और वीर्याचार का पालन भी तब तक करने का है जब तक अनंत विशुद्ध वीर्य उल्लसित न हो।

चित्त में इस प्रकार दृढ़ संकल्प करें। संकल्पहीन क्रिया निष्फल होती है। अतः केवलज्ञान, क्षायिक ज्ञान, यथाख्यातचारित्र, शुक्लध्यान, और अनंत विशुद्ध वीर्योल्लास की प्राप्ति का दृढ़ संकल्प रखकर ही ज्ञानाचारादि में पुरुषार्थ-शील होना चाहिए। जब तक उस उस आचार के शुद्ध पद की प्राप्ति न हो, जब तक शुभोपयोग की दशा है, जब तक सविकल्प अवस्था है, तब तक ज्ञानाचार वगैरह आचारों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

विशेष यह है कि पालन तो ज्ञानाचारादि का करने का य लक्ष्य उसके अंतिम शुद्ध पद पाने का रखने का। परन्तु जैसे ही निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होती है फिर न तो संकल्प रहता है न ही क्रिया। निर्विकल्प योग में तो उच्च कक्षा की ध्येय-ध्यान-ध्याता की अभेद अवस्था है। उस अवस्था की प्राप्ति जब तक न हो तब तक ज्ञानाचार वगैरह आचारों का आलम्बन लेकर शुभ उपयोग में रमणता करने की है।

योगसंन्यासतस्त्यागी योगानप्यखिलांस्त्यजेत्।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म परोक्तमुपपद्यते ॥७॥

देखिए, सर्वत्याग की पराकाष्ठा का कैसा अपूर्व दशा होती है। औदयिक भाव का त्याग (धर्मसंन्यास)

कर क्षायोपशमिक भावों में प्रवेश करने का ! क्षायोपशमिक भावों का भी द्वितीय-अपूर्वकरण मे त्याग करने का होता है।

'क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्म निवृत्तेः।'

—योगदृष्टि समुच्चय

जिन महात्माओं ने क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया है उनके क्षमा आदि क्षायोपशमिक धर्म भी चले जाते है व क्षायिक गुण प्रकट हो जाते है।

परन्तु ज्यों ही आत्मा ने चौदहवे गुण स्थानक में प्रवेश किया वैसे ही 'योगनिरोध' के द्वारा सब तरह के योगों का भी त्याग कर दिया जाता है। ऐसे सब योगों के त्याग को "योग-सन्यास" कहा जाता है। यह योगसन्यास 'आयोज्यकरण' करने के बाद किया जाता है।

"द्वितीयो योगसन्यास आयोज्यकरणादूर्ध्वं जीवति।"

—योगदृष्टि समुच्चय

सयोगीकेवली समुद्घात करने के पहले 'आयोज्य-करण' का प्रारंभ करता है। 'केवलज्ञान' के द्वारा अचिन्त्य वीर्यशक्ति से भवोपग्राही कर्म को (अघाती कर्म-को) उसी प्रकार की स्थिति में लाकर उसका क्षय करने की क्रिया 'आयोज्यकरण' कहलाता है। कायादि योगों का त्याग करने से 'शैलेशी अवस्था' में "अयोग" नाम के सर्वसन्यासरूप सर्वोत्तम योग की प्राप्ति होती है। इस रीति से "निर्गुण ब्रह्म" घट जाता है। औपाधिक धर्म योग का अभाव वही निर्गुणता। आत्मा में से स्वभाविक-क्षायिक गुण कभी भी नही जाते है। यदि वे गुण भी जाने वाले हों तो गुण के अभाव में गुणी का भी अभाव हो जाय। पर ऐसा नहीं होता। औदयिक व

क्षायोपशमिक गुण का जब अभाव हो जाता है, गुण चले जाते हैं तब आत्मा उन गुणों से रहित बनती है। निर्गुण कहलाती है। अत इस रीति से अन्य दार्शनिको की "निर्गुण ब्रह्म" की कल्पना घट जाती है। लेकिन उसमे क्षायिक गुण (स्थाई गुण) रहने से वह सगुण भी है। "सब त्याग" का निरन्तर लक्ष्य रख कर, वर्तमान मे औदयिक भावो का त्याग करने का पुरुषार्थ करना है।

वस्तुतस्तु गुणः पूर्णमनन्तैर्भासते स्वतः ।
रूप त्यक्तात्मनः साधोर्निरभ्रस्य विधोरिव ॥८॥

एक भी बादल नही स्वच्छ आकाश पूर्णिमा की रजनी और सोलह कलाओ से खिला हुआ चाँद ! कभी देखा है यह दृश्य ? दृष्टि को अनिमेष रखकर कभी ऐसे दृश्य का सौंदर्य-पान किया है ? यह रसपान तो किया होगा, और पुन अतृप्त बन गये होगें । आइए, यहाँ अपने को उपाध्यायजी एक अभिनव चन्द्रमा के दर्शन कराते है । एक सदोदित सुधाकर के दर्शन करने का प्रयोग बताते हैं।

"देखिये एक भी कर्म का बादल नही दिखता स्वच्छ स्फटिकमय सिद्धशिला का आकाश है शुक्ल पक्ष की अनुपम उज्ज्वला रजनी है अनन्त गुणो की कला से आत्मा का चाद खिल उठा है बस, निरखते ही रहिये मिनट दो मिनट नही, घन्टे दो घन्टे नही, निरन्तर सदैव निरखते ही रहिये। उस सदोदित चाँद का अनन्त काल तक निरखा करें।

आत्मा के शुद्ध एव अनन्त गुणमय स्वरूप का ध्यान कठिन कठिनतर कर्मों के मर्म का भेद डालता है। मनिन

वासनाओं की जड़ काट डालता है। जब तक वास्तविक अनंन्तगुणमय स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक उस स्वरूप का ध्यान व उस स्वरूप को प्राप्त करने का महान् पुरुषार्थ चालू रहना चाहिए। ज्यों उस शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हुई, सच्चिदानन्द की प्राप्ति हुई, त्यों सकल विश्व पूर्ण दिखेगा। पूर्णता से ही हरी-भरी चेतन सृष्टि का दर्शन होगा। ऐसा पूर्णता का दर्शन करने के लिए क्रमानुसार पुरुषार्थ इन आठ अष्टकों में इस रीति से बताया गया है :

पूर्णता की दृष्टि, ज्ञानानंद में मस्ती, चित्त का स्वसम्पत्ति में स्थिरीकरण, मोहत्याग, तत्त्वज्ञता, कषायों का उपशम, इन्द्रियविजय और सर्व त्याग।

'पूर्णो मग्नो स्थिरोऽमोहो ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः त्यागी'

इस प्रकार क्रमशः सर्वोच्च शिखर हांसिल हो सकता है।

ज्ञानी क्रियापरः शान्तो भावितात्मा जितेन्द्रियः।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः परांस्तारयितुं क्षमः ॥१॥

स्वयं भव सागर से पार करना व दूसरे जीवों को पार कराना यह है मनुष्य जीवन का श्रेष्ठतम पुरुषार्थ।

गंगा-यमुना जैसी भौतिक नदियों को पार करने के लिए भी ज्ञान एवं क्रिया की जरूरत पड़ती है तो भव के भीषण, गहन एवं तूफानी सागर को तरने के लिए क्या ज्ञान एवं क्रिया की आवश्यकता नहीं है? पर यह आवश्यकता उन्हें ही प्रतीत होती है, जिन्हें यह भवसागर भीषण, गहन व तूफानी दृष्टिगोचर होता है। किन्तु जब तक भवसागर [illegible], दुःखदाई एवं [illegible] दिखता है, तब तक उस ज्ञान, क्रिया आदि का मूल्य समझ में नहीं आता।

इस सागर से तरने हेतु एवं दूसरे जीवों को तारने हेतु यहाँ पाँच महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं —

१ ज्ञानी — जिसे पार करना है उस भीषण भव से [illegible] का ज्ञान किये बिना उससे कोई पार [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] परमात्मा [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जाता है [illegible] [illegible] के [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] प्राप्ति। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

और आवश्यक साधन सामग्री का भी ठीक ठीक ज्ञान होना चाहिये।

२. क्रियापर :—भव सागर को पार करने के लिये परमात्मा जिनेश्वरदेव ने जो जो क्रियाएं बताई है उन उन क्रियाओं को करने में तत्परता चाहिये। तत्परता माने जिस काल मे जिस जगह और जिस भाव से क्रिया करनी हो उसे करने में उत्साह और उमंग हो। आलस्य, निद्रा या अविधि न हो। ज्ञान दर्शन, चारित्र एवं तप के आचारो का यथाविधि पालन करना चाहिये। भव-सागर को पार करने को उत्कट इच्छा रखने वाले भव्यात्मा में तो यह सब बाते स्वाभाविक रूप से मौजूद होती हैं।

३. शान्त :—शान्ति……समता……एवं उपशम की तो प्रधान आवश्यकता है। भले ही ज्ञान हो व क्रिया भी हो, पर यदि उपशम नही है तो भव सागर पार करने में निश्चय निष्फलता ही मिलेगी। क्रोध एवं रोष आते ही ज्ञान एव क्रिया प्राणहीन बन जाते है। भव सागर को पार करता जहाज वही बीच में ही रुक जाता है। यदि उन क्रोध–रोष, व ईर्ष्या आदि जलचर जन्तुओं को न भगाया और वे दीर्घ काल तक रह गये तो जहाज में छिद्र बना देगे। छिद्र से पानी जहाज में भर जायगा और जहाज समुद्र में डूब जायगा। इसलिए उपाध्याय जी कहते है कि भव सागर को पार करने वाला शान्त होना चाहिये, क्षमाशील होना चाहिये।

४ भावितात्मा.–ज्ञान, दर्शन व चारित्र से आत्मा भावित बननी चाहिये। जैसे कस्तूरी से सुभावित बने हुए वस्त्र में से हर समय कस्तूरी की सुगन्ध ही सुगन्ध निकलती रहती है वैसे ही ज्ञान-दर्शन एव चारित्र से भावित हुए आत्मा से सदैव ज्ञानकी,

दशन की एव चारित्र की सुगध निकलती रहती है। उसमे से मोह व अज्ञान की दुर्गन्ध तो कभी भी निकल ही नही सकती।

५ जितेन्द्रिय –भव सागर पार करने वाले जीवको अपनी इन्द्रियो को वश मे रखनी चाहिये। बेकाबू इन्द्रिया जीव को जहाज से समुद्र मे पटक देती है।

इन पाच बातो को जिसने सिद्ध की वह जीव ससार-सागर पार कर गया समझो। दूसरे जीवो को तारने की योग्यता भी तभी ही प्राप्त होती है, जब की ये पाच बातें सिद्ध हो गई है। ये पाच बातें जिसमे नहीं है वह जीव यदि दूसरे को तारने का प्रयत्न करता है तो स्वय डूबता है व दूसरो को भी डूबा देता है।

क्रियानिरहित हन्त ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गति विना पथज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥२॥

आपको पता है कि देहली से बम्बई कितने मील है। आपको पता है कि किन-किन रास्तो से देहली से बम्बई जाया जा सकता है। आप पैदल रास्ता भी जानते हैं, व रेल मार्ग का भी आपको पता है। यह भी आपसे छिपा नही है कि टिकट के कितने पैसे लगते है। अरे, हवाई मार्ग की भी आपने पूरी जानकारी हासिल कर रखी है। परन्तु क्या आप सफर की पूरी तैयारी न करें, पैदल रास्ते पर चल न पडे अथवा रेल का टिकट लेकर गाडी मे बैठने की क्रिया न करें तो आप दिल्ली से बम्बई पहुँच सकते है? नहीं, दिल्ली से बम्बई पहुँचने के लिये आपको गति करनी ही पडेगी। मात्र मार्ग का ज्ञान रखने से इच्छित नगर नही पहुँचा जा सकता। ज्ञान के अनुसार गति क्रिया करनी ही पडेगी।

माना कि आपने मोक्ष-मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर लिया, आत्मा पर लगे हुए आठ कर्मों के जाल को भी परख लिया व जाल का भेदन करने के समस्त उपायों की भी जानकारी हासिल करली, पर यदि इस जानकारी के अनुसार पुरुषार्थ नही किया तो यह जानकारी का कोई भी मूल्य नहीं है । इस जानकारी से कोई अर्थ नही निकलता, बल्कि भारी अनर्थ हो जाता है ।

मोक्ष-मार्ग के अनुकूल क्रिया का त्याग कर जो मनुष्य मात्र मोक्ष मार्ग के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति करना चाहता है तो यह उसकी मिथ्या भ्रान्ति है । मोक्ष मार्ग की क्रियाओ की उपेक्षा करने वाला मनुष्य कोरे ज्ञान से अभिमानी बनता है, ससार-वर्धक क्रियाओं में लिप्त रहता है और आत्मा को मलिन करके भीषण भवसमुद्र में डूब मरता हैं । महत्वपूर्ण बात यह है कि क्या आप में आत्मा की सत्-चित्-आनन्द-मय अवस्था प्राप्त करने की ही एक तमन्ना जाग्रत हो गई है ? यदि ऐसी भावना जाग्रत हो गई तो ज्ञान एव क्रिया आपके जीवन में आये बगैर रह नही सकती । यह प्रकृति का सनातन नियम है कि जिस वस्तु को प्राप्त करने की तमन्ना आदमी में जाग्रत हो जाती है उस वस्तु की पहचान, उसे प्राप्त करने के उपायो का ज्ञान व उस वस्तु को प्राप्त करने का पुरुपार्थ हुए बिना रहता ही नही ।

जिस मनुष्य को धन प्राप्त करने की उत्कट कामना जाग्रत हो गई, क्या वह धन प्राप्त करने के उपायो का ज्ञान एवं पुरुषार्थ नही करेगा ? जिस वैज्ञानिक में किसी एक चम-त्कारी शोध करने की तमन्ना जाग्रत हो गई, उसे आपने कठिन प्रयास करते नही देखा ? नही सुना ? उसी प्रकार जिसे

आत्मा को परम विशुद्ध करने की तमन्ना जाग्रत हो गई, उसकी अग्नि के समान तप्त शिलाओं पर हाड एव चाम को जला डालने की सत्य-कथाये नही सुनी ?

मोक्षमार्ग का ज्ञान करने के पश्चात् यदि जीव उसके अनुकूल पुरुषार्थ करने मे पीछे रहता है तो उसका कारण उसकी सुखशीलता है। कष्टो को सहने की कमजोरी है। साथ-२ उसे पाप-क्रिया मे रस प्राप्त होता है और उसमे पापक्रियाओ का त्याग करने की शक्ति नही है ।

परमात्मभक्ति, सामायिक, प्रतिक्रमण, सूत्र-स्वाध्याय, ध्यान, गुरु सेवा, ग्लान-वैयावच्च, प्रतिलेखन, तपत्याग वगैरह निष्पाप क्रियाओ को आदर पूर्वक व विधिसहित करने वाला मनुष्य आत्मा की विशुद्धि के मार्ग पर प्रयाण करता है और आत्मविशुद्धि करके ही रहता है।

'क्रियाओ का रहस्य, परमार्थ समझे बिना क्रियायें करनी अर्थविहीन है।' ऐसा कहने वाला आदमी यदि खुद रहस्य एव परमार्थ समझ कर क्रियायें करता है तब तो उसकी बाते विचारणीय हैं। परन्तु अधिकतर लोग आत्मविशुद्धि के प्रयोग-रूप क्रियायें करने मे जिन कष्टो को सहन करना पडता हैं उन कष्टो से डरकर वह लोग पवित्र क्रियाये करने मे भय खाते ह, अपलाप करते ह। पाप क्रियाओ मे रसलीन बनकर पतन के गर्त्त मे जा गिरते ह।

> स्वानुकूला क्रिया काले ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षते ।
> प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि तैलपूर्त्यादिकं यथा ॥३।

जब तक सिद्धि प्राप्त न हो, जब तक साधक दशा है तब तक क्रिया की आवश्यकता रहती है। अलबत्ता, साधना को

भिन्न २ अवस्थाओं में क्रिया बदलती रहती है परंतु क्रिया की आवश्यकता तो केवलज्ञानी महर्षियों को भी रहती है।

क्रिया की आवश्यकता होती है स्वभाव को पुष्ट करने के लिये। अतः उस उस उचित काल में उचित क्रिया का आश्रय लेना ही पड़ता है।

सम्यक्त्व की भूमिका पर रहने वाला विवेकी जीव समकित के ६७ प्रकार के व्यवहारों का विशुद्ध पालन करता है। उसका आदर्श होता है देशविरति (गृहस्थ धर्म) व सर्व-विरति (साधु धर्म) का।

देशविरति-श्रावक जीवन की कक्षा में रहने वाले जीव को बारह व्रतों की पवित्र क्रियाओं का आचरण करना होता है। उसका लक्ष्य होता है सर्वविरतिमय साधु जीवन प्राप्त कर कर्मों का हनन करने का।

सर्वविरति-साधुजीवन में रत साधक आत्मा को ज्ञाना-चारादि आचारों का पालन, दशविधि यतिधर्म का पालन, बाह्य अभ्यंतर बारह प्रकार के तप का पालन आदि क्रियाओं का आश्रय लेना पड़ता है। क्षपक श्रेणी पर चढ़ते वक्त शुक्लध्यानारूढ होने की क्रिया करनी पड़ती है।

तत्राष्टमे गुणस्थाने शुक्लसद्ध्यानमादिमम् ।
ध्यातुं प्रक्रमते साधु-राद्यसंहननान्वितः ॥५१॥

—गुणस्थानक्रमारोहे

आठवे गुणस्थान पर वज्रऋषभनाराच संघयण वाला साधु प्रथम शुक्लध्यान धरना प्रारंभ करता है। तात्पर्य यह है कि उसे ध्यान धरने की क्रिया करनी पड़ती है।

'घाती कर्मो' का क्षय कर आत्मा पूर्ण ज्ञानी बनी, परन्तु उसे भी 'सवसवर' और पूर्णानन्द प्राप्त करने के अवसर पर 'योगनिरोध' की क्रिया करनी पडती है ।

पूर्णता की चोटी पर पहुँचने के लिये हर एक भूमिका पर उचित क्रिया करनी पडती है । इस बात का इन्कार वही मनुष्य कर सकता है जिसे जैन दर्शन के क्रमिक मोक्ष-मार्ग का ज्ञान न हो । तर्क से भी क्रिया का महत्व समझा जा सके ऐसा है । अनादिकाल से जीव पाप क्रियाऐं रसपूर्वक कर ससार मे परिभ्रमण कर रहा है । यानि भवभ्रमण का कारण आत्मा की पाप क्रियाऐं ही है। यदि इस भवभ्रमण को मिटाना है तो इसके कारण को मिटाना चाहिये । प्रतिपक्षी धर्मक्रियाओं द्वारा पाप-क्रियाओ का निवारण हो सकता है ।

जब तक जीव ससारी है, उसे कोई न कोई क्रिया तो करनी ही पडती है । चाहे धर्मक्रिया हो या पापक्रिया । जिस मनुष्य की दृष्टि सत्-चिद् आनन्द स्वरूप पूर्णता की चोटी पर पहुँची और वहाँ पहुँचने के लिये लालायित है वह मनुष्य वे सब क्रियाऐं आनन्द पूर्वक व रससहित करेगा, जो क्रियाऐं उसे पूर्णता की चोटी पर पहुँचाने मे सहायक हो सकती हैं ।

घी या तेल का दीपक, स्वय स्वप्रकाशरूप होते हुए भी यदि उसमे तेल डालने की क्रिया न की जाय तो? स्वप्रकाशरूप होते हुये भी तेल डालने की क्रिया उसके लिये अपेक्षित है । बिजली का प्रकाश स्वप्रकाशरूप होते हुए भी उसके लिये स्विच दबाने की क्रिया, बिजली-घर मे से 'करंट' प्रवाह की आने की क्रिया आदि की भी अपेक्षा होती ही है । विराट ससार का ऐसा कौनसा क्षेत्र है कि जिसमे मन, वचन एव काया से कोई क्रिया न करनी पडती हो ? ऐसा कौनसा काय

है जो क्रिया किये विना ही पूरा हो जाता हो ? वास्तविकता यह है कि प्रमाद, आलस्य और मिथ्या अभिमान को दूरकर हर एक साधक को अपनी-२ भूमिका के अनुरूप क्रिया, (जो परमात्मा जिनेश्वरदेव से निर्देशित है) उसका विधि-काल और प्रीति-भक्ति सहित करना हितकर है।

बाह्यभावं पुरस्कृत्य ये क्रिया व्यवहारतः।
वदने कवलक्षेपं विना ते तृप्तिकांक्षिणः ॥४॥

क्या आप यह कहते है कि "पौषध, प्रतिक्रमण, प्रभुदर्शन पूजन, गुरु-सेवा-भक्ति, प्रतिलेखन और तपश्चर्या आदि सभी व्यवहार क्रियाऐ बाह्यभाव है, इससे आत्मा का कोई कल्याण नहीं हो सकता ?" क्या आपका यह मंतव्य है कि हिसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह की क्रियाएँ आप करते रहे और अहिसा, सत्य, अचौर्य सदाचार तथा निष्परिग्रहता की सिद्धि आप कर लेगे ? क्या रूप-रमणियो के दर्शन-पूजन, मदान्ध श्रीमतो की सेवा-भक्ति, सुन्दर भांति-२ की वेश-भूषा, मन पसद मादक भोजन करने की क्रियाये आप करते रहे फिर भी आत्मा की शुद्ध-बुद्ध-निरजन निरकार दशा प्राप्त कर लेगे ?

भाई, भूले मत पड़ो। भ्रम में मत पड़ो। स्वस्थ बनकर निराग्रही बुद्धि से विचार कर महर्षियो के अनुभव-सिद्ध वचनों का मर्म समझने का प्रयत्न करें। बाह्य भाव दो प्रकार का है। एक शुभ व दूसरा अशुभ। जिसमें बिल्कुल आत्मा की विस्मृति होती हो और एक मात्र विषयानद प्राप्त करने के लक्ष्य से ही क्रिया की जाती हो, यह अशुभ बाह्यभाव है। जिसमें आत्मा की मधुर स्मृति हो, एक मात्र आत्मानद का अनुभव प्राप्त करने का लक्ष्य हो, परम करुणासागर

परमात्मा जिनेश्वरदेव के प्रति बहुमान हो, पापो से मुक्त होने की पवित्र भावना हो, ऐसी हर कोई क्रिया शुभ बाह्यभाव है। अशुभ पाप क्रियाओं की अनादि-कालीन गदी आदतो से मुक्त होने के लिये शुभ धर्मक्रियाओं की शरण लिये बिना चल नही सकेगा।

आपका पुत्र आपके पास आकर कहे 'पूज्य पिताजी ! आप मुझे स्कूल क्यो भेजते है ? पाठशाला मे जाना, तरह-२ के साम वस्त्र (युनिफार्म) पहनना, पुस्तकें ले जाना, पढना अध्यापक के सामने बैठना, अध्ययन करना, अध्यापक का विनय करना यह सारी क्रियायें बेकार हैं, निरर्थक हैं। बाह्य क्रियायें हैं, ज्ञान तो आत्मा का गुण है । आत्मा मे से ज्ञान प्रकट होता है, फिर किस लिए पाठशाला जाने का कष्ट करना ? इसलिये मैं तो स्कूल मे नही जाता, घर रहूंगा और अपने मित्रों के साथ खेल खेलूंगा व तमाशे देखूंगा।'

क्या आप अपने पुत्र की ये बातें यथार्थ मान लेंगे ? उसकी विनती स्वीकार कर उसका पाठशाला जाना बन्द कर देंगे ?

कोई सेना का सैनिक अपने सेनापति से जाकर कहे कि 'सेनापतिजी आप किसलिये मुझसे परेड करवाते हैं ? किसलिए दौडाते है ? किसलिए कसरत करवाते हैं ? किसलिए रायफल, मशीनगन चलाने की ट्रेनिंग देते हैं ? बल शक्ति यह तो आत्मा का गुण हैं। यह सब बाह्य क्रियायें तो व्यर्थ ही है।' सैनिक की यह बात क्या आपको यथार्थ लगती है ? क्या सेनापति ऐसे सैनिक को एक क्षण भी बर्दाश्त करेगा ? निकाल नही देगा ?

उन २ आत्मगुणों को प्रकट करने के लिये वैसे-२ वाह्य पवित्र एवं निर्दोष क्रिया-अनुष्ठान करना ही पड़ता है। तभी वे आत्म-गुण प्रगट होंगे। अनंतज्ञानी परमपुरुष तीर्थंकर देव ने जो जो कायिक-वाचिक एव मानसिक क्रियायें आत्मविशुद्धि के लिये वताई है, यदि आत्वविशुद्धि की सच्ची भावना है तो उन्हे आदर पूर्वक करते ही रहना चाहिये।

मुंह में ग्रास डाले विना क्या भूख मिट सकती है? तृप्ति का सुख अनुभव करना है तो मुँह में ग्रास डालने की क्रिया करनी पड़ेगी। उसी रीति से यदि आत्मसुख अनुभव करना है तो उसके लिये आवश्यक क्रिया करनी ही पड़ेगी।

गुणवद्बहुमानादेर्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया।
जातं न पातयेद् भावमजातं जनयेदपि ॥५॥

अन्तरात्मा में प्रकटित शुभ, पवित्र, उन्नत एव मोक्षानुकूल भाव हमारा अमूल्य धन है, सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। इन शुभ भावों की सम्पत्ति द्वारा ही हम परम पद की प्राप्ति कर सकते है।

भावो की एक विशेषता होती है। अगर प्रतिसमय की सावधानी से इन भावों की रक्षा न की जाय तो ये भाव चले जाते है। ऐसे चंचल शुभ भावों के सरक्षण हेतु यहाँ सात सवल सुन्दर एवं सरल उपाय वताये गये है। परन्तु इन उपायों को अमल मे लाने का काम वह कर सकता है कि जिसने शुभ भावों का मूल्यांकन किया हो, वाह्य भौतिक सम्पत्ति से असंख्य गुणा अधिक महत्व समझ मे आ गया हो। और शुभ भावों का संरक्षण करने के लिये हर प्रकार से तैयार हो। जैसा भी वलिदान करना हो करने के लिये तैयार हो।

सत्य के पवित्र भाव का संरक्षण करने के लिये हरिश्चन्द्र ने राजपाट देकर मूल्य चुकाया। भोग-विलास का बलिदान दे दिया व चाडाल को बेचे जाने जैसा ज्वलंत भोग चढा दिया।

अहिंसा के उत्तम भाव की रक्षा के लिये महाराजा कुमारपाल ने अपने पैर पर चिपके हुये मकोडे (चिऊंटे) को बचाने के लिए अपने पैर की चमडी को कटा कर मकोडे को बचा लिया।

सतीत्व के सर्वोत्तम भाव के रक्षण हेतु सीता जी ने वर्षों तक अशोक वाटिका में रावण के त्रास को सहन किया। पितृ वचन के पालनार्थ रामचन्द्र जी व लक्ष्मण जी ने वर्षों तक वन में भटकना पसन्द किया।

(१) व्रत का स्मरण —जब अपने शुभ भावों पर अशुभ भावों का आक्रमण हो तब ग्रहण किए हुए व प्रतिज्ञा से स्वीकार व्रतों को याद करना चाहिये। उससे आत्मा में ऐसी शक्ति प्रगट होती है कि जो शक्ति अशुभ भावों को हटा कर दूर फेंक देती है। कालगिया मुनि पर कामांध सुन्दरी ने आक्रमण किया तब मुनि के अंतिम वाक्य यह रहे थे —

'तन वचन काया से जो व्रत ग्रहण किया, उसका खंडन नहीं करूंगा। भले मन विचलित होकर उसका पालन करूंगा गृहवास नहीं करूंगा।'

(२) गुणीजन-बहुमान — "गुणीजन सभी शुभ भाव के भण्डार व आदर्श होते हैं। उनके प्रति प्रेम, भक्ति एवं श्रद्धा धारण करने से वे कारण पर कार्योपचार से मान है और शुभ भावों की रक्षा करता है।

(३) पाप-जुगुप्सा:—आपने जिन पापों का त्याग किया है उन पापों के प्रति भूल चूक कर भी आकर्षण न हो जाय, उनकी तरफ झुकाव न हो जाय, इसके लिये उन पापो के प्रति घृणा...जुगुप्सा...तिरस्कार करते रहना चाहिये। जैसे ब्रह्मचारी को अब्रह्म की पाप क्रिया की तरफ घोर घृणा करनी चाहिये।

(४) परिणाम-आलोचन:—पाप एव धर्म के परिणामों का विचार करना चाहिये। "दुख पापात्, सुखं धर्मात्" इस सूत्र को मस्तिष्क मे खुदवा लेना चाहिए।

(५) तीर्थंकर-भक्ति—परमात्मा तीर्थंकरदेव का नामस्मरण, दर्शनपूजन और उनके अनत उपकारो की वारवार स्मृति कर उनके प्रति भक्ति धारण करने से शुभभाव वृद्धि पाते है।

(६) सुसाधु-सेवा—मोक्ष मार्ग के अनुकूल आचरण करने वाले साधु पुरुषो की अन्न-पानी-वस्त्र-पात्र, वसति (रहने का स्थान), औषध आदि से सेवा करनी चाहिये।

(७) उत्तर-गुण श्रद्धा:—पच्चक्खाण, गुरु वदन, प्रतिक्रमण, तप-त्याग, विनय आदि क्रिया-कलापों में उद्यमी रहना चाहिये।

इस प्रकार क्रिया करने से सम्यग्ज्ञानादि संवेग-निर्वेद आदि भाव गिरते नही और जिनमें ऐसे भाव न प्रगट हुये हो उनमें नये प्रकट होते है। अन्त में परमानन्द की प्राप्ति होती है।

क्षायोपशमिके भावे या क्रिया क्रियते तया ।
पतितस्यापि तद्भावप्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥६॥

आत्मविशुद्धि की साधना माने विराटकाय हिमगिरि की खडी चढाई । पूरे उत्साह से और खूब सावधानी से चढने वाले भी कभी २ गिर पडते हैं। परन्तु इसमें आश्चय जैसी कोई वात नही है । आश्चय तो तव होना चाहिये कि जव पतन के खड्डे मे गिरे हुये, घायल आरोहक पुन उत्साह से आरोहण करने का पुरुषार्थ प्रारम्भ कर देता है ।

यहा उपाध्याय जी आत्मविशुद्धि के भाव के शिखर पर चढते २ गिर जाने वाले, पतन की खाई मे गिरे हुए आराधक की निराशा को दूर करते है और उसे पुन आरोहण करने का स्पष्ट मार्ग वताते हैं ।

ज्ञानावरणीय, दशनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से तप और सयम के अनुकूल क्रिया करना प्रारम्भ करो । आपकी आत्मा मे तप एव सयम के, ज्ञान और वैराग्य के, दान और शील के उच्च भावो की वृद्धि होने लगेगी । परन्तु यहा पूजनीय हरिभद्रसूरीश्वरजी एक विशिष्ट वात कहते है कि 'तप और सयम के अनुकूल जो भी अनुष्ठान करें वह दृढतापूण पुरुषार्थ होना चाहिये ।'

यहा ऐसे पतित आराधक को लक्ष्य करके यह वात कही गई है कि जिसका वेप साधु का है, जिसकी सामान्य चर्या भी साधु जैसी है परन्तु जिसमे साधुता के भाव नही है, सयम के भाव चले गये हैं । ऐसे ही वेप है श्रावक का, जीवन चर्या है श्रावक की परन्तु श्रावक जीवन के अनुकूल तप-सयम का भाव मद पड गया है । ऐसी परिस्थिति मे अगर उस मनुष्य को

पुनः शुभ भावों में स्थिर होना है तो उसे दृढ़ सकल्प कर ज्ञान-दर्शन और चारित्र की क्रियाओं में पुरुषार्थ करना चाहिये।

मानों कि किसी साधु का मन विषय-वासना से घिर गया, ब्रह्मचर्य का-चतुर्थ महाव्रत का भाव चला गया, यदि वह यह विचार करे कि "मेरा मन विषय-वासना से हार गया है। मै चौथा महाव्रत नही पाल सकता, अतः मेरे लिये अब साधु जीवन का क्या अर्थ है? गृहस्थ वन जाऊँ।" ऐसा विचार करने से उसका उत्थान नही हो सकता। वह पुनः सयम के अध्यवसाय को नही पा सकता। उसे तो यह विचार करना चाहिये कि "ओ हो! मेरी कैसी घोर निर्वलता है कि मै साधुता स्वीकार करके भी साधुता के प्राणसम ब्रह्मचर्य के भाव खो वैठा... निःसत्व... हो गया...मेरी आत्मा का क्या होगा? मैं पुनः भव के भीषण समुद्र में डूव जाऊंगा...नही नही, मै किसी भी प्रकार से अपने खोये हुये व्रत के भावों को प्राप्त करूंगा। ब्रह्मचर्य की नौ सीमाओं का दृढ़ता से पालन करूंगा। उन्माद को पिघाल दे वैसा तप तपूंगा। ज्ञान में मन को वांधकर रखूंगा। संयम की-चारित्र की प्रत्येक क्रिया में अप्रमत्त वन दुष्ट विचारो को अपने में प्रवेश नही पाने दूंगा। मैं पराजित होकर पीछे नही हटूंगा।"

इस तरह दृढ़ संकल्प कर अगर वह साधु जीवन जीना शुरु करे तो अल्प काल में ही व्रत के पवित्र भाव को पुनः प्राप्त किये विना नही रह सकता। ऐसा विश्वास पूज्य उपाध्यायजी कराते है। अलग २ क्रिया अलग २ शुभ भावों की वाड़ है। इन वाड़ों में यदि थोड़ा सा भी छिद्र रह गया तो अशुभ भाव-रूपी पशु उसमें घूस जायेगे और शुभ भावरूपी तैयार फसल को खा जायेगे। वाड़ विना फसल की रक्षा नही हो सकती। यह

वात गवार भी जानता है तो बुद्धिमान साधक क्या नही समझ सकता ? महाव्रत, अणुव्रत आदि के भाव और ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भाव को सुरक्षित रखने हेतु ही अनतज्ञानी, परमात्मा जिनेश्वरदेव ने तप-सयम की अनेक विधियाँ बताई है ।

क्रियाओ का त्याग कर शुभ भावो को जगाने की एव उनकी रक्षा करने की पागल सी वातें छोड दो । अशुभ क्रियाओ से अशुभ भाव जाग्रत होते है व वृद्धि को पाते है । उसी रीति से प्रस्तुत प्रसग मे भी समझे ।

> गुणवृद्धयै ततः कुर्यात् क्रियामस्खलनाय वा ।
> एकं तु सयमस्थान जिनानामवतिष्ठते ॥७॥

एक ही लक्ष्य, एक ही ध्येय व एक ही आदर्श हो 'गुण-वृद्धि' । प्रत्येक शुभ व शुद्ध क्रिया का यही लक्ष्य ध्येय व आदर्श हो कि आत्मगुणों की वृद्धि होनी चाहिये । जैसे दुकान खोलकर व्यापार करने वाला व्यापारी अपनी प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य धनवृद्धि रखता है । जिन-२ मार्गों के द्वारा उसे धनवृद्धि होती दिखती है, भले ही वे मार्ग कष्टप्रद हो, धनवृद्धि की अभि-लाषा रखने वाला वह मनुष्य उन कष्टभरे मार्गों पर हर्ष से दौडता है और जैसे-२ धन की वृद्धि होती जाती है वैसे-२ उसका पुरुषार्थ दृढ और दीर्घकालीन बनता जाता है । उसका आनन्द दिन दूना और रात चौगुना बढता जाता है ।

धर्म की क्रियात्मक-साधनाएँ भी इसी प्रकार गुणवृद्धि की दुकानें है । क्रियासाधक व्यापारी को अपनी प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य गुणों की वृद्धि रखना चाहिये । जिन-२ क्रियाओ द्वारा गुणवृद्धि होती दिखे भले ही, वे क्रियाए कष्टभरी हो,

गुणवृद्धि की अभिलाषा वाला साधक वह कष्ट भरी क्रिया हर्ष के साथ कर लेता है। जैसे २ गुणों की वृद्धि होती जाती है वैसे २ उसका क्रियात्मक पुरुषार्थ सावधानी भरा एवं दीर्घकालीन बनता जाता है और उसका आनंद ब्रह्मानंद एवं चिदानंद बन जाता है।

अब यहाँ कुछ क्रियाएं लेकर उनके द्वारा किस रीति से गुणवृद्धि करनी, इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण विचार करें।

सामायिकः—इस क्रिया का लक्ष्य समता गुण की वृद्धि का होना चाहिये। जैसे २ सामायिक की क्रिया होती जाये वैसे २ आत्मा की तिजोरी में समता गुण का धन बढ़ता जाना चाहिये। सुख-दुःख के प्रसंगों मे उन्माद-शोक की वृत्ति मंद पड़ जानी चाहिये। प्रतिमास प्रतिवर्ष यह जांच करनी चाहिये कि "सामायिक की क्रिया द्वारा मैंने कितना समता-धन कमाया? मेरे राग-द्वेष कितने मंद हुये? क्रोध की धमधमाहट कितनी कम हुई?" सामायिक की क्रिया गुणवृद्धि ही करने वाली है, ऐसी बात नही है। इससे समता गुण की रक्षा भी होती है।

प्रतिक्रमणः—पाप-जुगुप्सा पाप-निंदा और पापत्याग के गुणों की वृद्धि करने के लिये यह क्रिया करने की है। इस गुणवृद्धि को लक्ष्य में रखकर की हुई प्रतिक्रमण की क्रिया इस गुण की वृद्धि करती है। इस गुण से जीव को गिरने नही देती।

तपश्चर्याः—आत्मा के अनाहारीपन के गुण की वृद्धि के लिये व आहार-संज्ञा के दोष के क्षयहेतु तपश्चर्या की क्रिया अनिवार्य है। इस क्रिया के बिना दोषक्षय व अनाहारीपने के गुणों की वृद्धि नहीं होती।

गुरु सेवा विनय —नम्रता, आज्ञाकारिता, लघुता, ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि के लिये गुरु-सेवा एवं गुरुविनय की वैविध्यपूर्ण क्रियाएँ उत्तम साधन हैं। उन गुणों की वृद्धि के सावधानीपूर्ण लक्ष्य को रखकर यदि सेवा भक्ति की क्रिया की जाय तो अवश्य ही गुणवृद्धि होती है। नहीं तो जो गुण हैं वे भी चले जाते हैं।

तीर्थ-यात्रा —परमात्मा के प्रति प्रीति, भक्ति, बहुमान आदि गुणों को विकसित करने के आदर्श से सिद्धगिरि, गिरनार, सम्मेत शिखर आदि पवित्र तीर्थों की यात्रा अवश्य उन गुणों का विकास करती है। परन्तु उन गुणों को विकसित करने की अपनी तमन्ना चाहिए। इन गुणों के बिना जीवन शून्य लगे तब बात है।

इसी प्रकार दान, शील, स्वाध्याय, वनवास, अनशन, अनशन, विविध अभिग्रह आदि क्रियाएँ नये २ गुणों की वृद्धि हेतु व दोषों के क्षय हेतु करनी चाहिये। इन सारी क्रियाओं के किये बिना गुणप्राप्ति, गुणवृद्धि या गुणरक्षा नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि छद्मस्थ जीवों के 'संयम-स्थान' व 'अध्यवसाय स्थान' चंचल हैं और गिरने के स्वभाव वाले हैं। यह तो एक मात्र केवलज्ञानी भगवन्त हैं कि जिन्होंने सब गुणों की पूर्णता प्राप्त करली है, उनको गुणों के पतन का डर नहीं, क्योंकि उनका संयम स्थान अप्रतिपाती-स्थिर होता है।

वचोऽनुष्ठानतोऽसङ्गक्रियासंगतिमङ्गति ।
सेयं ज्ञानक्रियाऽभेदभूमिरानन्दपिच्छला ॥८॥

जब परमात्मा जिनेन्द्र देव के प्रति प्रीति-भक्ति का रंग लग जाता है, आत्मा के प्रदेश २ में प्रीति-भक्ति का सागर

हिलोरें लेने लग जाता है तब जीवात्मा में ऐसा विशुद्ध वीर्य उल्लसित होता है कि जिसके द्वारा अपने प्रियतम परमात्मा के गहन वचनो को यथार्थ रूप में समझ सकता है और इन वचनों के अनुसार पुरुपार्थ करने को शक्तिमान बनता है।

उत्सर्ग और अपवाद, निश्चय और व्यवहार, नय और प्रमाण ...आदि के वास्तविक ज्ञान के साथ सर्वत्र वह आत्मा जब उचित प्रवृत्ति करने वाली बनती है तब "असंग अनुष्ठान" की सर्वोत्तम योग्यता सपादन करती है। यहाँ ज्ञान और क्रिया के बीच का भेद दूर हो जाता है। दोनों एकरसभाव बन जाते हैं।

'असंग अनुष्ठान' की भूमि में भावरूप क्रिया शुद्ध उपयोग एवं शुद्ध वीर्योल्लास के साथ एकीभूत बन जाती है। तीनों का भिन्न २ अस्तित्व नहीं रहता। तादात्म्य धारण कर लेते हैं। फिर वह आत्मा स्वाभाविक आनन्द के अमृत रस से परिपूर्ण हो जाती है। ऐसे स्वाभाविक आनंद के अमृत रस में परम तृप्ति का अनुभव करते 'जिनकल्पी' 'परिहारविशुद्धि' आदि महात्मा भौतिक विश्व में रहे परम सुख का आनंद लूटते है।

ऐसी उच्चतम आत्मावस्था प्राप्त करने के लिए चार बाते बताई गई है :

(१) परमात्मा जिनेश्वरदेव के प्रति अविहड़ प्रीति।

(२) परमात्मा जिनेश्वरदेव की आदरपूर्वक भक्ति।

(३) परमात्मा जिनेश्वरदेव के वचनों का विस्तृत ज्ञान।

(४) जिनवचनानुसार जीवन जीने का पुरुषार्थ।

परमात्मा जिनेश्वरदेव के साथ जब प्रीति-भक्ति का संबंध हो जाता है तब संसार के पौद्गलिक पदार्थों के साथ

प्रीति टिक सकती नही है। शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श के आकर्षण टूटते जाते हैं। मोहांध जीवो का आदर-सत्कार करना बंद हो जाता है। दुनियाँ का देखना, सुनना व जानना अप्रिय लगता है। जीवन का पापमय पुरुषार्थ कम होने लगता है और एक दिन संपूर्ण पाप-पुरुषार्थमय सांसारिक जीवन को त्याग कर परमात्मा से मधुर मिलन करने के लिए संयम-पथ पर दौड पडता है दौडता ही जाता है नही परवाह करता है कंटक और कंकर की, न ही परवाह करता है धूप और छांव की। उसकी कल्पना-सृष्टि मे बिना 'परमात्मा' कुछ भी नहीं रहता। मात्र ज्ञान प्राप्त करता जाता है और आगे बढता जाता है। ज्यो ज्यो आगे बढता है त्यो त्यो परमानन्द व परम सुख अनुभव करता है।

तात्पर्य यह है कि जब तक पूर्णता गुणो की पूर्णता प्राप्त न हो तब तक गुणों की पूर्णता प्राप्त करने के लिए परमात्मा ने जो जो क्रिया करने की आज्ञा प्रदान की है वह क्रिया करते रहना चाहिए। मात्र ज्ञान प्राप्त कर कृतकृत्यता न मानें। ज्ञान के अनुरूप क्रिया नही की, क्रिया का त्याग कर दिया, तो ज्ञान एक ओर रह जायगा और जीवन पापक्रिया से भरमार बन जायगा। इतना ही नहीं, वह ज्ञान का उपयोग पापक्रिया को पुष्ट करने मे व पापक्रिया को छिपाने मे होगा। इससे आत्मा की घोर अवनति होगी। ऐसी दुर्दशा न हो इस-लिए ग्रंथकार धर्मक्रियाओं में मन-वचन-काया को जोडने की प्रेरणा देते हैं।

गुणो की पूर्णता प्राप्त करने का निश्चित आदर्श आखो के सामने रखते हुए, उस आदर्श को सिद्ध करने वाली क्रियाए आदरपूर्वक व विधिपूर्वक कर, पूर्णानन्द का अनुभव करें।

१० : तृप्ति

पीत्वा ज्ञानामृतं भुक्त्वा क्रियासुरलताफलम् ।
साम्यताम्बूलमास्वाद्य तृप्तिं याति परां मुनिः ॥१॥

परम तृप्ति....पुनः कभी भी अतृप्ति की आग प्रदीप्त न हो ऐसी तृप्ति प्राप्त करने का कैसा स्वच्छ....सीधा और निर्भय मार्ग वताया है ! ज्ञानामृत का मधुर पान करो, क्रिया-सुरलता के फलों का मिष्ट भोजन करो और समता-ताम्बूल से मुख सुवासित करो ।

किसलिए जगत के भौतिक पेय का पान करना ? मलीन, पराधीन और क्षण में विलीन होने वाले भौतिक पेय पदार्थों का पान करने से जीवात्मा का मन राग-द्वेष से मलिन वनता है । इन पेय पदार्थों को प्राप्त करने के लिये अन्य जीवों की गुलामी एवं चाटुकारिता करनी पड़ती है । यह सव करके प्राप्त किये हुए पेय पदार्थों का पान करने के पश्चात् भी इनकी तृप्ति घंटे दो घंटे में विलीन हो जाती है । पुनः इन पदार्थों के प्रति राग...द्वेष...गुलामी....व क्षणिक आनन्द ! ऐसे विषचक्र में फंसा जीव कैसे अन्तरंग के महासागर में डूवकी लगा सकता है ? अव छोड़ो जगत के पेय पदार्थों का पान करने की लत ! मेरे आत्मदेव ! अव तो आप ज्ञान के अमृत-कुम्भ के सामने देखिये .. उससे प्यार करिए । नित्य इस अमृत कुम्भ को अपने पास ही पास रखिए । जव भी प्यास लगे इस अमृत कुम्भ का अमृत पीओ । इससे न राग-द्वेष से मलीन होना, न हो इसके

लिये जगत के स्वार्थी जनो की गलामी करनी और न ही दुनियाँ के द्वार-२ पर भटकना ।

फिर क्या खाने का ? यह प्रश्न आपको सताता है ? आप चिंता न कर । ऐसा सर्व रसो से परिपूर्ण, शक्तिदायी और अनत यौवन को अखड रखने वाला भोजन तैयार है । आप अपना भोजन पात्र खोलो ! अरे ! यह आपके पात्र मे कितनी गदगी भरी हुई है? कितनी दुर्गन्ध फैल रही है? भाई, इस पात्र को धोकर स्वच्छ तो करो ! गदे भोजन पात्र मे ऐसा उत्तम भोजन कैसे परोसा जा सकता है ? गदे पात्र मे लिया हुआ भोजन भी गदा हो जाता है, दुर्गन्धमय बन जाता है, रोगो को पैदा करने वाला बन जाता है । क्या ऐसे उत्तम भोजन सामने होने पर भी आप अपने पास की झूठन का मोह नहीं छोड सकते ? बहुत खा लिया यह झूठा भोजन, आपकी देह कितने रोगो से घिर गई है ?

श्रावक जीवन एव साधु जीवन की पवित्र क्रियाऐ कल्पवृक्ष के मधुर फल एव उत्तम भोजन हैं । परन्तु इस भोजन को करने के पहले आत्मा रूपी पात्र मे पडी पापक्रियाओ की झूठन साफ कर बाहर डाल दीजीए । अर्थात् जब पाप क्रियाओं का त्याग कर के धर्म क्रियाऐ करने में आयें तभी धर्म क्रियाओं के अपूर्व स्वाद का अनुभव होता है ।

भोजन करने के बाद ताम्बूल भी चाहिये न ? भीनी-२ सुगध युक्त "समता" मुख वास (ताम्बूल) है । ज्ञान का अमृत-प्याला पिया, और सम्यक क्रिया का दैवी भोजन किया, परन्तु समता रूपी ताम्बूल नही लिया तो तृप्ति की डकार नही आयेगी ।

गंभीर चिंतन से प्राप्त परम तृप्ति के मार्ग को लक्ष्य में रखकर जिसका हृदय भाव-सचार में प्रवृत्त होता है तब ही मार्मिक प्रभाव का उद्भव होता है। यहां श्री उपाध्याय जी के तर्क-बुद्धि की करामात नही है, परन्तु भावप्रेरित प्रतीति है। जब हमें इसकी प्रतीति हो जायगी तब हम परम तृप्ति के पथ पर तीव्र वेग से दौड़ने लगेगे। फिर जगत के जड़ भोजन एव मलीन पेय पीने की इच्छा-मूर्च्छा मृतप्राय. बन जायगी। ज्ञान-क्रिया एव समता की वासना जागृत हो जायगी। फिर मुनि-जीवन की जो मस्ती प्रगट होगी व पूर्णानन्द की ओर जो प्रयाण होगा, वह विश्व में चमत्कार उपस्थित करने वाला होगा। अनेक जीव ऐसे मुनि जीवन के प्रति आकर्षित होगे, उसे प्यार करेंगे व उसे अपनाने को उत्साहित बनेगे। क्षणिक तृप्ति के पुरुपार्थ का त्याग कर चलिये, अपने परम एव शाश्वत तृप्ति के स्थायी पुरुषार्थ को प्रारम्भ करे।

स्वगुणैरेव तृप्तिश्चेद् आकालमविनश्वरी।
ज्ञानिनो विषयैः किं तैर्यैर्भवेत् तृप्तिरित्वरी ॥२॥

तब तक पांच इन्द्रियो के प्रिय पदार्थों की ओर आकर्षण रहता है जब तक जीव अपनी तरफ नही देखता। ज्ञान-नेत्र खोलकर ज्योही जीवने अपनी तरफ देखा, वैसे ही उसे ऐसे अभौतिक शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श मिल जाते है कि जो शब्दादि उसकी अनंतकाल पुरानी अतृप्ति को समाप्त कर सकते है। भला, ऐसी स्वाधीन व अविनाशी तृप्ति मिलने के पश्चात् कौन जगत के पराधीन एवं आविनाशी विपयो के पीछे भागेगा ?

प्राणप्रिय प्रेयसी के प्रेम के माधुर्य मे से छलकते शब्द और तन-मन धन की कुरबानी कर देने वाले भक्त के

भक्तिपूर्ण वचनो को सुनकर जो तृप्ति जो आनन्द की प्राप्ति होती है वह आनन्द थोडे घन्टे, थोडे दिन या महिनो के लिये ही होता है। जब उसकी प्रेयसी मे परिवर्तन आता है, उसके मुखसे हृदय को भेदने वाले अंगारवृष्टि करते तीर छूटने लगते हैं, जब उसके वे भक्त भक्तिशून्य बनकर लपलपाती आग के समान अपवाद बोलने लगते हैं, तब कहा रही वह तृप्ति ?

तो क्या रूप को देखकर शाश्वत तृप्ति मिलती है ? नहीं, भले ही स्वर्ग लोक की रंभा-उर्वशी का रूप क्यो न हो, वैसा का वैसा रूप कभी टिक नही सकता। वह सदैव आनन्द नही दे सकता। ज्ञानदृष्टि उस चमडी के नीचे स्थित हाड-मास और रुधिर की विभत्सता को देखती है, रूप उसे आकर्षित नही कर सकता। ज्ञानदृष्टि को तो आत्मदेव के मन्दिर मे विराजित परमात्मा का रूप ऐसा भा गया होता है कि वह टकटकी लगाकर उसी रूप मे खो जाती है। उसी मे परम तृप्ति अनुभव करती है।

दुनिया का ऐसा कौन सा रस है कि जिसे वर्षों तक, जन्म-जन्मान्तरो तक उपभोग कर जीव तृप्त हो गया हो ? क्या जन्म से लेकर आज तक रस रसास्वादन किया है ? तृप्ति हुई ? नही। क्षणिक तृप्ति हुई व दूसरे ही दिन पुनः अतृप्ति। दूसरे ही मौसम मे पुनः अतृप्ति।

अब आपको किसी पुष्प की सुवास या इत्तर की सुगन्ध की इच्छा नही है न ? तृप्ति हो गई ? अब फिर कभी भी इस सुवास व सुगन्ध के लिये व्याकुल आतुर तो नही होंगे? जब तक स्वगुणो की सुवास के अन्दर नही नहाओगे तब तक जड पदार्थों की परिवर्तनशील सुवास के लिए भटकते रहोगे। हा, स्वगुणो

(दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की सुवास में लयलीन बनने के पश्चात् भौतिक पदार्थों की सुगन्ध ही दुर्गन्ध लगेगी।

कोमल-मुलायम-चमडी का स्पर्श जीवनपर्यन्त करते रहो, जन्मजन्मातर तक करते रहो, तृप्ति नही होगी कि 'बस, अब तो तृप्त हो गये, अब तो विषयभोग की तृप्ति हो गई।'

जब स्वगुणों मे सत्-चिद्-आनन्द में परम मस्ती प्राप्त हो गई, जब ही परम ब्रह्म के शब्द, परम ब्रह्म का सौन्दर्य, परम ब्रह्म का रस, परम ब्रह्म की सुगन्ध एवं परम ब्रह्म के स्पर्श की अविनाशी सृष्टि में प्रवेश पा लिया, तब क्षणिक तृप्ति देने वाले जड़ पदार्थ शब्दादि विषयों का क्या प्रयोजन ? नंदनवन में जाने के पश्चात् मलिन भूमि में जाने की क्या आवश्यकता ? किन्नरियों का संगीत सुनने के बाद गर्दभ सुरो से क्या प्रयोजन ? अप्सराओं का रूप मिलने के पश्चात् भीलनियों के रूप की क्या कामना ? कल्पवृक्ष के फलो का रस मिलने के बाद नीमरस की क्या आवश्यकता ? देवांगनाओं के स्पर्श सुख मिलने के बाद हाड़-मास-रुधिर-युक्त मानव स्त्रियो के सग की क्या जरुरत ? ज्ञानी पुरुष उसका नाम है कि जिसके मन मे से शब्दादि विषयों की अपेक्षा नष्ट हो गई हो, आकर्षण मृतप्राय. होने लगा हो, सग-उपभोग की वृत्ति नष्टप्राय: हो गई हो। ज्ञानी बनने के लिये यही परम उपाय है।

या शान्तैकरसास्वादाद् भवेत् तृप्तिरतीन्द्रिया।
सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा षड्रसास्वादनादपि ॥३॥

न इष्ट विषयो का दु:ख, न इष्ट सयोग का सुख। न कोई चिन्ता-सताप या न कोई पुद्गल का राग-द्वेष। न कोई इच्छा व न कोई अभिलाषा। विश्व के सर्व भावो के प्रति उसकी समदृष्टि। इसका नाम है शान्तरस।

ज्ञान-रसायन सिद्ध करना जरूरी है। उसके लिये एक वैज्ञानिक की तरह प्रयोग मे लग जाना चाहिए। भले ही इस प्रयोग मे ५-५० वर्ष लग जाय, जिन्दगी लग जाय, परन्तु इस भयकर ससार मे विना ज्ञान-रसायन के सहारे, कर्मों के काजल से वचना असम्भव है। ज्ञान-रसायन को सिद्ध करने के प्रयोगो की रीति श्री जिन-आगमो मे वताई हुई है। अपन को वह रीति अजमानी है, और प्रयोग सिद्ध करके ही सतोष लेना है। वस, ज्ञान-रसायन सिद्ध करने के वाद निर्भयता है।

ज्ञान रसायन की सिद्धि का प्रयोग वताया जाता है, "मै पुद्गलभावो का कर्ता नही हू, मै पुद्गलभावो का प्रेरक नही हूँ, मै पुद्गलभावो का अनुमोदक भी नही हूँ।' इस विचार से आत्मतत्त्व को भावित करना है। उसके लिये वारवार यह विचार करना है।

पुद्गल भावो मे निरतर रमणता करती जीवात्मा, इन पुद्गलभावो द्वारा होने वाली हृदयविदारक यातनायें भूल जाती है। पुद्गल भावो का सुख तो दुःख पर का क्षणजीवी वारीक आच्छादन है। क्रूर कर्मों के कठोर प्रहारो के सामने वह टिक नही सकता। वह फट जाता है। और जीवात्मा रुधिर वरसता क्रन्दन करता है। पौद्गलिक सुखो के आशाभरे आकाश के नीचे भले जीव ऐश्वर्य एव विलासिता मे लयलीन रहे हलाहल से भी ज्यादा दारुण यह ऐश्वर्य और विलासिता का जहर उसके अग अग मे फैल जायेगा तव उसका करुण रुदन सुनने वाला इस विशाल आकाश के नीचे कोई नही मिलेगा।

"मैं खाता हूँ . मैं भोगता हूँ...मैं मकान बनाता हूँ....।" इस प्रकार का कर्तृत्व का अभिमान जीव को पुद्गलप्रेमी बनाता है। पुद्गल का प्रेम कर्मबंधन में असाधारण कारण है। पुद्गलप्रेमी जीव कर्मों के लेप से लिप्त होता जाता है। इसके परिणाम स्वरूप अनेक दुःख उस पर आ कर पड़ते हैं। इस विषमता को मिटाने हेतु विषमता का मूल ही उखाड फेकना चाहिये। यह मूल है पुद्गल भावों मे कर्तापन की बुद्धि। इस बुद्धि का परिवर्तन करने के लिये यह विचार करना चाहिये कि "मै पुद्गल भावों का कर्ता नही हूँ।"

दूसरी वासना है पुद्गल भावों के प्रेरकपन की। "मैंने दान दिलाया..। मैंने तप कराया... मैंने दुकान करायी...मैंने घर बनाकर दिया...।" इस प्रकार जीव अपने को पुद्गलभावों का प्रेरक मानने का अभिमान धारण करता है। इससे भी कर्म-लेप का जीव पर विलेपन होता है। इसलिये 'मै पुद्गल-भावों का प्रेरक नही हूँ।' यह भावना दृढ़ करनी है।

उसी प्रकार तीसरी वासना है पुद्गलभावों की अनुमोदना। पुद्गलभावों की अनुमोदना का मतलब है पुद्गलभावों की आंतरिक प्रशंसा व वाचिक प्रशसा। 'यह बंगला सुन्दर है। यह रूप अनुपम है। यह शब्द मधुर हैं। यह स्पर्श सुखदायी है...।' इस प्रकार जीव पुद्गलभावों का अनुमोदक बनकर कर्म लेप से लिप्त होता चला जाता है और महान दु.ख भोगता है। इसलिये "मै पुद्गलभावो का अनुमोदक नही हूं।" इस भावना से व इस भावनाज्ञान से आत्मा को भावित बना देना चाहिये। परन्तु इस भावना को हजारों लाखो बार घोट २ कर रसायन बनाना पड़ेगा। तभी यह भावनाज्ञान सिद्धरसायन बन

जायेगा। फिर आत्मा को किसी कर्म का लेप नहीं लग सकेगा।

आत्मा अपने शुद्धस्वरूप मे अपने ही गुणों का कर्त्ता व भोक्ता है। पुद्गलभावों का कर्तृत्व व भोक्तृत्व उसके शुद्ध स्वरूप में है ही नहीं। फिर जीव पुद्गलभावों में क्यों कर्तृत्व का अभिमान धारण करता है? यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उत्पन्न होता है। इसका समाधान यह है कि जीवों का कर्म के साथ अनादि-सम्बन्ध है। कर्मों के प्रभाव के नीचे जीव पुद्गल-भावों के साथ अनादि काल से कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि भाव धारण करता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना से कर्मों का प्रभाव क्षीण होता जाता है। जैसे-२ आत्मा का शुद्ध स्वरूप का राग वृद्धि पाता जाता है वैसे-२ जड पुद्गलभावों के प्रति वैराग्य वृद्धि पाता जाता है। जीव त्यागमार्ग पर आगे बढ़ता चला जाता है।

'लिप्यते पुद्गलस्कन्धो न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।
चित्रव्योमाञ्जनेनेव' ध्यायन्निति न लिप्यते ॥३॥

आत्मा की निर्लेपदशा का ध्यान भी कितना प्रबल असर करने वाला है! ध्यान धरिये, जब तक ध्यान-धारा चलती रहेगी तब तक आत्मा मलिन होगी ही नहीं।

"मुझे कर्म के कीचड से लिप्त नहीं होना है।" जब यह दृढ प्रणिधान किया जाता है तब ही कर्म मे निर्लेप बने रहने की प्रवृत्ति होती है। जितना प्रणिधान दृढ होगा उतनी प्रवृत्ति वेगवान एवं प्रबल बनेगी। इसलिये पहले प्रणिधान का दृढ बनाना चाहिये। इस दशा के लिये कर्मों के विचित्र-विचित्र विपाकों का चिन्तन करना चाहिये।

कर्ममुक्त बनने की तमन्ना लग जाने के बाद कर्मजन्य सुखों के प्रति नफरत पैदा हो जाती है। अति आवश्यक सुख भोग में भी अनासक्ति की सावधानी रहती है। इस अनासक्ति को स्वभाविक बनाने के लिये यहाँ यशोविजयजी उपाध्याय 'पुद्गल विज्ञान' का चिन्तन करने का असरकारक उपाय बताते हैं।

'पुद्गल समुदाय से लिप्त होता है पुद्गल समुदाय। पुद्गलों से चैतन्य लिप्त नहीं होता। जैसे अंजन से विविध वर्ण वाला आकाश लिप्त नहीं होता।'

अति आवश्यक पुद्गल-परिभोग के समय ऐसा चितन करने से पुद्गल-परिभोग करने पर भी जीव लिप्त नहीं होता।

पुद्गल-परिभोग के समय यह चितन करने से पुद्गल-परिभोग में सुख-बुद्धि या रसगृद्धि पैदा नहीं होती। चिनन-ध्यान करते हुए भी यदि पुद्गल-परिभोग में सुखबुद्धि या रसगृद्धि पैदा होती हो तो समझना चाहिये कि ध्यान प्रबल नहीं है। ध्यान की पूर्व भूमिका में प्रणिधान दृढ़ नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जीव कभी भ्रम में पड़ जाता है। वह मान लेता है कि "पुद्गलों से पुद्गल उपचय पाते हैं, मेरी आत्मा इसमें लिप्त नहीं होती।" फिर वह मस्त होकर पुद्गल-परिभोग करता है। पुद्गल-परिभोग में निर्भयता अनुभव करता है। इस प्रकार भयकर आत्म-वंचना होती है।

'पुद्गल से पुद्गल बंधते हैं।'—इस विचार के द्वारा 'पुद्गलों से मुझे लाभ होता है...पुद्गलों से मैं तृप्त होता हूँ।' इस अज्ञान का नाश होता है। फिर पुद्गलों का आकर्षण और परिभोग कम होने लगता है।

पुद्गल परस्पर किस प्रकार जुडते हैं, उसका विज्ञान जैनागमो मे सूत्र सूक्ष्मता से समझाया गया है। पुद्गलो मे स्निग्धता एव रुक्षता दो गुण विद्यमान होते हैं। स्निग्ध परिणाम वाले व रुक्ष परिणाम वाले पुद्गल परस्पर बध जाते हैं। परन्तु उसमें अपवाद यह है कि जघन्य गुण वाले स्निग्ध व जघन्य गुण वाले रुक्ष पुद्गलो का परस्पर बध नही होता। जब गुणो की विषमता होती है तब सजातीय पुद्गलो का भी परस्पर बध होता है। अर्थात् समान गुण वाले स्निग्ध पुद्गल का समान गुण वाले स्निग्ध के साथ और तुल्य गुणवाले रुक्ष पुद्गल का तुल्यगुण वाले रुक्ष पुद्गल के साथ बध नहीं होता है।

आत्मा के साथ पुद्गलो का जो सम्बन्ध है वह तादात्म्य सम्बन्ध नही है परन्तु सयोग सम्बन्ध है। आत्मा के गुण–धर्म व पुद्गलो के गुणधर्म भिन्न हैं। अत उन दोनों की तद्रूपता नही होती। इस प्रकार पुद्गल व आत्मा का भेदज्ञान परिपक्व होने के बाद कर्म पुद्गलो से लिप्त होने का नही बनता। भेद-ज्ञान को परिपक्व बनाने के लिये नीचे की पक्तियो को आत्मसात् करिए —

'लेपाय पुद्गलो सर्वे ,नही हुं पुद्गलो थकी।
अ जन नही स्पर्शे यथा आकाश न नकी ॥'

लिप्तताज्ञानसपातप्रतिघाताय केवलम् ।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥४॥

"मैं निर्लेप हूँ।" ऐसे निर्लेप ज्ञान की धारा [illegible] वे आत्मप्रदेश पर अस्खलित गति [illegible] रही हो [illegible]

आवश्यक प्रतिलेखनादि क्रियाओं का कोई प्रयोजन नही रहता। आवश्यकादि क्रियाओं का प्रयोजन तो विभाव दशा में...लिप्तता जाल में जाने वाली चित्तवृत्तियों को रोकने के लिये हैं।

तात्पर्य यह है कि जब तक आत्मा बार बार प्रमाद स्थानों की तरफ दौड़ जाती है तब तक आवश्यकादि क्रियाऐं महान् उपकारक बनती हैं। उन क्रियाओं के द्वारा आत्मा विषय-कषायादि प्रमादों से बच जाती है। यह प्रमाद अवस्था ६ गुणस्थानक तक ही होती है। 'प्रमत्त-संयत' गुणस्थान तक प्रतिक्रमण प्रतिलेखन आदि बाह्य-क्रियाऐं करने का विधान है। जब तक जीव प्रमादसंयुक्त होता है तब तक निरालंब (आलंबन रहित) धर्मध्यान नही टिक सकता। यह बात 'गुणस्थान क्रमारोह' ग्रन्थ में कही है:-

यावत् प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति।
धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिनभास्कराः ॥२६॥

—गुणस्थान क्रमारोहः

अर्थात् जब तक विषयकषायादि प्रमादों का जोर होता है तब तक निर्लेपज्ञान की मग्नता नहीं आ सकती। ऐसी स्थिति में यदि आवश्यकादि क्रिया छोड़ कर निश्चल ध्यान करने बैठ जायें तो 'अतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः' वाली स्थिति पैदा हो जाती है। कितने एक मनुष्य प्रतिक्रमणादि क्रियाओं में निरसता अनुभव कर उन्हें छोड़कर निश्चल ध्यान करने का प्रयत्न करते है। पर वैसे ध्यान से न तो उनकी विषय-कषाय की वृत्ति-प्रवृत्ति मंद पड़ती है, और न ही आगे के गुणस्थानों पर प्राप्त होता है। ऐसे मनुष्य जैन दर्शन की सूक्ष्मता को नहीं

समझते। मिथ्या कल्पना पर आग्रही बनकर वास्तविक आत्मोन्नति से दूर रहते हैं। इसलिये जब तक अप्रमत्त दशा प्राप्त न हो तब तक आवश्यकादि क्रियाऐं अवश्य करनी चाहिये। इन क्रियाओ के आलबन से आत्मा प्रमाद मे पडने से बच जाती है। विभाव दशा का अज्ञान उसके मनोमन्दिर मे प्रवेश नही कर सकता। 'श्री गुणस्थान क्रमारोह' मे कहा हैं

तस्मादावश्यकैः कुर्यात् प्राप्त दोषनिकृन्तनम्।
यावन्नाप्नोति सद्ध्यानमप्रमत्तगुणाश्रितम् ॥३१॥

सातवे गुणस्थान के सम्यग् ध्यान मे अर्थात् निर्लेप ज्ञान मे जब तक मग्नता प्राप्त न हो तब तक आवश्यकादि क्रियाओ के द्वारा विषय कषायो के प्रवाह को अटकाकर उसे नष्ट कर दो।

"लिप्तता ज्ञान" याने विभाव दशा, कर्मजन्य भावो मे मोहित होने की अवस्था। इस लिप्ताज्ञान का प्रतिघात–विनाश करने के लिये पूज्य उपाध्याय जी जैसे योगी पुरुष आवश्यक क्रियाओ को प्रबल उपाय बताते है। "बाह्य क्रियाकाड से कोई आत्मज्ञान प्राप्त नही होता।" ऐसा कहने वाले बुद्धिशाली जरा अपनी बुद्धि की जाच करे। वे यह तो विचार करें कि विषय-कषायमय सासारिक क्रियाओ को रसपूर्वक कर करके कितना अनात्मज्ञान दृढ किया है? उसी प्रकार क्या पाप-निंदागर्भित प्रभुभक्तियुक्त, अभिनव गुणो की प्राप्तिस्वरूप आवश्यकादि क्रियाओ के द्वारा आत्मज्ञान दृढ नही हो सकता? अवश्य हो सकता है। जिन्होंने अपनी जिन्दगी तक एव युक्ति के सैकडो ग्रन्थो का अध्ययन, परिशीलन करने मे गुजार दी थी वैसे उपाध्यायजी के इस वचन को विचारने की खूब जरुरत है।

आवश्यकादि क्रियाओ का महत्व हृदय में जमाने की अनिवार्यता है। वर्ना प्रमादपरवशता बढ जायेगी।

तपःश्रुतादिना मत्तः क्रियावानपि लिप्यते।
भावनाज्ञानसम्पन्नो निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥५॥

प्रतिक्रमण-प्रतिलेखनादि अनेक क्रियाये करते हुए भी उन पर अभिमान आया तो पाप-कर्म से लिप्त हुए विना नही रहोगे। 'मै तपस्वी, मै विद्वान्....मै ध्यानी .. मै बुद्धिशाली ...मैं क्रिया चुस्त....' इस प्रकार अपने उत्कर्प का खयाल का मतलब है अभिमान। एक तरफ ,तप त्याग ओर शास्त्राध्ययन चलता रहे ओर दूसरी तरफ इसी तप-त्याग व शात्राध्यन का अभिमान उभरता रहे! जिसके द्वारा कि अभिमान को खत्म कर देना होता है।

अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष कर करके जीव अपने विशुद्ध अध्यवसायो को खत्म कर देता है। आत्मा विशुद्ध अध्यवसायो की श्मशान भूमि वन जाती है। वहाँ नाच होता है क्रोध, अभिमान, माया और लोभ रूपी पिशाचो का। वहाँ डराती है आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की पिशाचिनीयाँ। वहाँ उड़ते रहते है विषय-विकार रूपी गिधड़।

पूज्य उमास्वाति जी ने 'प्रशम रति' में साधक आत्मा से पूछा है :—

'लब्ध्वा सर्वं मदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ?'

तप-त्याग....ज्ञान... आदि जो कि मद को हरने के साधन है, उनके ही द्वारा क्या मद किया जा सकता है ?

ध्यान रखिये, मद करने में कोई लाभ नही वल्कि दो नुकसान होगे।

'केवलमुन्माद स्वहृदयस्य ससारवृद्धिश्च ।'

हृदय का उन्माद और ससार की वृद्धि ! यह दो नुकसान है । तप या श्रुत, वहा कोई नही बचा सकेगा । तप-त्याग और श्रुत-ज्ञान के द्वारा भावनाज्ञान की भूमिका पर पहुँचना है । समग्र सत्क्रियाओ के द्वारा आत्मा को भावना-ज्ञान से भावित करना ह । भावना ज्ञान से भावित होने के बाद कोई क्रिया नही करते हुए भी आत्मा कम से लिप्त नही होती ।

श्रुत ज्ञान व चिन्ता-ज्ञान के बाद भावना ज्ञान की कक्षा प्राप्त होती है । वहा ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद नही रहता । वहाँ तो होती है ध्याता, ध्येय और ध्यान के अभेद की अवर्णनीय मस्ती । इस मस्ती का काल मात्र अन्तमुहूर्त होता है । उस काल मे बाह्य धम क्रियाओ की आवश्यकता नही रहती । फिर भी वह कर्मो से लिप्त नही होता ।

परन्तु जिसके श्रुतज्ञान का भी ठिकाना नही है वैसा जीव आवश्यकादि क्रियाओ को छोड कर मनमाने ध्यान का आश्रय लेलें, इस से वह कमवधन से बच नही सकता । इसी प्रकार श्रुतज्ञान प्राप्त करने के बाद यदि अभिमानादि आन्तरिक दोषो को वश हो जायें तो भावनाज्ञान की भूमिका का स्पर्श भी नही हो सकता । अत तप-ज्ञान आदि प्राप्त होने के बाद नीचे न गिर पडें, इसलिये निम्न भावना से भावित होना चाहिये ।

"पूर्व पुरुष-सिंहो के अपूवज्ञान-विज्ञान के आगे मै तो तुच्छ हूँ, फिर किस बात का अभिमान करू ?"

"जिस तप और ज्ञान के सहारे मुझे तरना है उसी के द्वारा डूबने कीक्रिया मुझे नही करनी है ।"

"श्रुत ज्ञान से चिन्ता ज्ञान और भावना ज्ञान तक मुझे पहुँचना है, अतः मैं अभिमान से दूर रहूँगा।'

"भावनाज्ञान तक पहुँचने के लिये आवश्यकादि क्रियाओं का बहुमानपूर्वक आदर करूँगा।'

अलिप्तो निश्चयेनात्मा लिप्तश्च व्यवहारतः।
शुद्धयत्यलिप्तया ज्ञानी क्रियावान् लिप्तया दृशा ॥६॥

"मैं मेरे शुद्ध स्वभाव में अज्ञानी नहीं हूँ। पूर्ण ज्ञानी हूँ...पूर्णदर्शी हूँ...अक्रोधी अमानी-अमायी-अलोभी-अमोही हूँ....अनन्त वीर्यशाली....अनामी व अगुरुलघु हूँ। अनाहारी और अवेदी हूँ। मेरे स्वभाव में न तो निद्रा है न विकथा। न रूप है न रंग। मेरा स्वभाव सच्चिदानंदमय है।" आत्मा की इस स्वभाविक स्वभाव दशा का चितन करने से ज्ञानी पुरुष शुद्ध बनता है। यह दृष्टि 'निश्चय नय' की है। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा अलिप्त है।

लिप्तता 'व्यवहार नय' से होती है।" मैं अशुद्ध प्रवृत्ति करने से कर्मों के बन्धन में फंसा हुआ हूँ, लिप्त हूँ। अब शुद्ध प्रवृत्ति कर पूर्व के कर्म-लेप का क्षय करूँगा और नये कर्मों को नहीं बांधूँगा। इस रीति से अपनी आत्मा को शुद्ध करूँगा।" इस प्रकार अलिप्त दृष्टि से आवश्यकादि क्रियाओ को करता जीव अपनी आत्मा को शुद्ध करता है।

निश्चय नय की दृष्टि से शुद्ध होने का ज्ञान योगी के लिये है। पाप क्रियाओं में फसी हुई जीवात्मा के लिये तो व्यवहार नय का क्रियामार्ग ही उचित है। अपनी कर्ममलिन अशुद्ध अवस्था का खयाल कर उस अशुद्धि को टालने के लिये जिनभाषित एक-२ सम्यक क्रिया का आदर करना चाहिये। और

इस रीति से आत्मा के शुद्धिकरण का प्रयोग करना चाहिये। पाप क्रियाओं में ज्यों-२ मुक्त होते जाओ त्यों-२ निश्चय नय की अलिप्त दृष्टि का अवलम्बन लेकर शुद्ध ध्यान की तरफ अग्रसर होते चलो।

ज्ञानक्रियासमावेशः सहैवोन्मीलने द्वयोः ।
भूमिकाभेदतस्त्वत्र भवेदेकैकमुख्यता ॥७॥

शुद्ध होने के लिये दो दृष्टि खुलनी चाहिये। लिप्त दृष्टि व अलिप्त दृष्टि। जब दोनों दृष्टि साथ खुलती हैं तब ज्ञान और क्रिया का एकीभाव होता है। गुणस्थान की भूमिका के अनुसार ज्ञान-क्रिया की मुख्यता रहती है।

यहाँ पहली बात है शुद्ध होने की। शुद्ध होने की तमन्ना जाग्रत हो जानी चाहिये।

एक योगी के पास एक आदमी गया। प्रश्न किया 'योगिराज! मुझे परमात्मा का दर्शन करना है, आप करायेंगे?'

योगी ने उस मनुष्य के सामने सूक्ष्म दृष्टि से देखा। थोड़ा मुस्कराया और उस पुरुष का हाथ पकड़ कर योगी चलने लगा। पास में बाहर एक बड़ा सरोवर था। योगी ने उस मनुष्य के साथ सरोवर में प्रवेश किया, गोड़ तक पानी आया पर योगी आगे बढ़ता ही गया। छाती तक पानी आ गया, नासिका तक पानी आ गया। योगी ने बिजली के वेग से उस मनुष्य की गर्दन पकड़ी और उस पानी में डुबा दिया। एक मिनिट, दो मिनिट ... वह मनुष्य पानी में तड़पने लगा। योगी ने उसे ऐसा पकड़ रखा था कि वह बेचारा सिर बाहर न निकाल सके। पाँच दस सैकिण्ड के बाद योगी ने उसे बाहर निकाला और उसे उठाकर पानी के बाहर ले आया।

वह तो वेचारा हैरान-परेशान हो गया था। योगी ने हंसते हुये कहा :—

"जब मैंने तुम्हे पानी में डुबा दिया तब तुम किस लिये तड़फते थे ?"

"हवा के लिये।" मनुष्य ने जवाब दिया।

"वह तड़फड़ाहट कैसी थी ?"

"इससे ज्यादा तड़फना पड़ता तो प्राण पखेरु उड़ जाता।"

"ऐसी तड़फड़ाहट परमात्मा के दर्शनों के लिये है? जिस क्षण ऐसी तड़फड़ाहट अनुभव होगी, दूसरे ही क्षण परमात्मा के दर्शन हो जायेगे।"

शुद्ध होने के लिये ऐसी तमन्ना प्रकट होने के वाद स्वयं जिस भूमिका पर हो उस भूमिका के अनुसार ज्ञान और क्रिया को मुख्य करके शुद्ध होने के पुरुपार्थ में लग जाना चाहिये। भूमिका के अनुसार दो में से एक को मुख्य कर सकते हैं। ज्ञान को मुख्य करें अथवा क्रिया को मुख्य करें। छठे गुणस्थानक तक (प्रमत्त यति का गुणस्थानक) क्रिया को मुख्य करनी चाहिये। परन्तु वहाँ ज्ञान की सापेक्षता तो रहनी ही चाहिये। ज्ञान की सापेक्षता याने प्रत्येक क्रिया के पीछे ज्ञानदृष्टि खुली रहनी चाहिये। ज्ञान की उपेक्षा-अवज्ञा नहीं होनी चाहिये। व्यवहारदशा में क्रिया की प्रधानता होती है परन्तु इससे जीव यदि एकान्त क्रिया-जड़ वन जाये तो आत्मशुद्धि नहीं होती है, उसमें ज्ञान-दृष्टि तो रहनी ही चाहिये। इस रीति से ध्यान दशा मैं ज्ञान की मुख्यता रहती है, वहां भी यदि जीव एकान्त ज्ञानजड़ वन जाय तो आत्मशुद्धि नहीं होती है। अतः आवश्यक क्रियाओं के प्रति आदर रहना चाहिये।

व्यवहार से तीर्थ (प्रवचन) रक्षा होती है। निश्चय से सत्यरक्षा होती है। निश्चय और व्यवहार, दो चक्रों पर जिन मत का रथ गतिशील रहता है। जिन मत द्वारा आत्म-विशुद्धि का प्रयोग करने वाले साधक को व्यवहार और निश्चय दोनों के प्रति सापेक्ष दृष्टि रखनी ही चाहिये। सापेक्ष दृष्टि सम्यग् दृष्टि है। निरपेक्षदृष्टि मिथ्या दृष्टि है।

सापेक्ष दृष्टि का उद्घाटन होने के बाद जीवात्मा ज्ञान-क्रिया का सुस्वादु सुमेल सिद्ध करता है। आत्मा प्रतिसमय विशुद्ध बनती जाती है। आत्मा की गुण-समृद्धि प्रगट होती जाती है। उसका आंतरिक आनंद अनुभव होता जाता है। सापेक्ष दृष्टि में से बरसता आनन्द का अमृत आत्मा को अमर व अक्षय बना देने में समर्थ बनता है। निरपेक्ष दृष्टि में से टपकता क्लेश का विष आत्मा का भीषण भवरण में मौत का घाट उतार देता है।

सज्ञान यदनुष्ठान न लिप्त दोषपङ्कतः।
शुद्ध-बुद्ध-स्वभावाय तस्मै भगवते नमः ॥८॥

क्रिया ज्ञान सहित होनी चाहिये। ज्ञान सहित क्रियानुष्ठा को दोषों का कीचड़ नहीं लगना चाहिये।

ज्ञानसहित क्रियानुष्ठान माने क्या? जो क्रियानुष्ठान हम करें उसके स्वरुप, विधि और फल का ज्ञान हमें होना चाहिये। आत्मविशुद्धि के ही एक मात्र पवित्र फल की आकांक्षा से प्रत्येक क्रियानुष्ठान करना चाहिये। "मुझे मेरे आत्मा की शुद्ध-बुद्ध अवस्था प्रकट करनी है।' यह आदर्श सदैव आपके सामने स्पष्ट रहना चाहिये। क्रिया में प्रवृत्त होने के बाद इसकी विधि का ज्ञान हासिल कर लेना चाहिये और विधिपूर्वक

क्रियानुष्ठान करना चाहिये। क्रियानुष्ठानो के विधि निपेधों की जानकारी के उपरांत जिनमत के मोक्षमार्ग का ज्ञान प्रत्येक मुमक्षु आत्मा को होना चाहिये।

क्रियानुष्ठान करते हुए 'अतिचारों से अनुष्ठान दूपित न हो' इह हेतु जाग्रत रहना चाहिये। मोह, अज्ञान, रस ऋद्धि और शाता गारव, कपाय, उपसर्गभीरुता, इन्द्रियो का विपयो के प्रति आकर्पण-इत्यादि चेष्टाओं के द्वारा अनुष्ठान दुपित न हो इसकी प्रतिपल साधानी रखनी चाहिये। इस प्रकार दोपरहित और सम्यग्-ज्ञान-सहित क्रियानुष्ठान करने वाले शुद्ध-वुद्ध-स्वभाववाले भगवंत को नमस्कार हो।

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानपूर्वक व दोपरहित क्रियानुष्ठान करने से आत्मा का शुद्ध-वुद्ध सहज स्वरुप प्रकट होता है। ज्ञान-रहित व दोपपूर्ण क्रियाऐं करते जाने से आत्मा का सहज स्वरुप प्रकट नही होता। ऊपर से मिथ्याभिमान पुष्ट होता है और चतुर्गति का परिभ्रमण वढता है। कर्म-निर्लेप वनने के लिए ज्ञान-क्रिया का विवेकपूर्ण एकीभाव करना चाहिये।

१२ : निस्पृहता

स्वभावलाभात् किमपि प्राप्तव्य नावशिष्यते ।
इत्यात्मैश्वर्यसम्पन्नो नि:स्पृहो जायते मुनिः ॥१॥

हे आत्मन्! तुझे क्या प्राप्त करना है? किसकी आकाक्षा निरतर तेरे अत करण को दुःखी कर रही है? किसलिए तुझे सोने, चादी व रत्नो का ढेर चाहिए? किसलिये तुझे गगनचुम्बी महल चाहिये? तुझे क्या रूपसुन्दरिया के वृन्द मे रहना है? क्या तुझे यश-कीर्ति के सर्वोच्च शिखर हासिल करना हैं? भाग्यशाली, छोड दे यह सारी लालसाएं। इन सब लालसाओ मे आनन्द नही है, शान्ति नही है, स्वस्थता नही है।

मान लो यह सब तुम्हे मिल गया। मिल जाने के बाद तू सुखी बन जायगा क्या? क्या तू यह मानता है कि यह सब मिल जाने के बाद वह सब सदैव तेरे पास ही रहेगा? ऐसे मिथ्या भ्रम मे मत रहना। यह सब चचल, अस्थिर एव विनाशी है। भूतकाल मे अनत बार इन सबको प्राप्त किया था, फिर भी दरिद्र का दरिद्र ही रहा! अब तो ऐसा प्राप्त करने का प्रयत्न कर कि जो एक बार प्राप्त करने के बाद जाये ही नही। जो अविनाशी है, जो अक्षय है, जो अचल है, उन्हे प्राप्त करने! वह है स्वभाव! आत्मा का स्वभाव!

आप दृढ निश्चय करे कि 'मुझे आत्म स्वभाव की प्राप्ति करनी है, उसके सिवाय मुझे और कुछ नही चाहिये। चित्त-

साम्राज्य का ऐश्वर्य भी मुझे नही चाहिये, मुझे तो आत्म-स्वभाव का ही ऐंश्वर्य चाहिये। इस दृढ़ निश्चय से ही मुनि नि:स्पृह बनता है। नि:स्पृहता की शक्ति से मुनि विश्व-विजेता बनता हैं। विश्व का कोई सौंदर्य उसे आकर्षित नही कर सकता। "मुझे और कुछ नही चाहिये, मुझे तो आत्मस्वभाव चाहिये।" आत्म स्वभाव के अतिरिक्त जिसे और कोई भी स्पृहा नहीं है उसका ऐंश्वर्य अद्वितीय होता है।

महामुनि व्रजस्वामी के चरणों में श्रेष्ठी धनावह ने क्रोड़ो सोनैयो की थैलियो रख दी थी। रुप-रभा रुकमणि ने अपना रुप-यौवन समर्पित कर दिया था। पर महामुनि तो आत्म-स्वभाव के आकाक्षी थे। उनको न तो थी स्वर्ण मुद्राओं से स्पृहा व न थी रुपयौवन की कामना। उनके अन्त:करण को धनावह व रुक्मणि आकर्षित नही कर सकी। हाँ, महामुनि ने ऐसा ऐश्वर्य रुक्मणि को बता दिया कि रुक्मणि संसार के मायावी ऐंश्वर्य से अलिप्त हो गई और आत्म-स्वभाव का ऐश्रर्य प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ-शील बन गई।

आत्मस्वभाव का ऐंश्वर्य जिस मुनि को आकर्षित नही करता वह मुनि पुद्गल के अधम ऐंश्वर्य की तरफ आकर्षित हो जाता है और वह मुनिपने को कलंकित करता है। दीनता की दर्द भरी चीखे, आत्म-पतन के विध्वंसकारी आघात व वैपयिक तूफान के धक्को से गिर पड़ता है। आषाढभूति की नटणियों के लिये विवशता, अरणिक मुनि का रुपसुन्दरी के पीछे उद्दिप्त वासनाओ का नृत्य, सिहगुफावासी मुनि की कोश्या-वेश्या के पीछे सयम-विस्मृति...यह सब क्या था ? आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य की सरासर विस्मृति और भौतिक-पार्थिव ऐंश्वर्य की आकांक्षा। वैषयिक-ऐंश्वर्य की वासना और विलासिता ने उन्हें

अशक्त बना दिये अशक्त बने हुए वे विश्व के गुलाम बन गये। पुन आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य का भान हुआ और निःस्पृहता की दिव्य शक्ति प्रकट हो गई तो गुलामी को फेंक दिया व महाराजा बन गये।

> 'परस्पृहा महादुःख निःस्पृहत्व महासुखम् ।
> एतदुक्त समासेन लक्षण सुखदुःखयोः ॥'

पर पुद्गल की स्पृहा यही महादुःख है। निःस्पृहता मे महासुख है। मुनि जितना निःस्पृह हो उतना ही सुखी।

> स्वयोजितकरैः के के प्रार्थ्यन्ते न स्पृहावहैः ।
> अमात्रज्ञानपात्रस्य निःस्पृहस्य तृण जगत् ॥२॥

स्पृहा के साथ दीनता की सगाई है। जैसे ही किसी परपुद्गल की स्पृहा हृदय मे आई, दीनता उसके पीछे ही प्रवेश करती है। स्पृहा और दीनता अनन्तशक्तिसम्पन्न आत्मा की शक्ति हर लेती है और भव की गलियो मे भटकाते भीख के भिखारी बना देती है।

रावण के हृदय मे परस्त्री की स्पृहा जागृत हो गई। सीता के चरणो मे दीनता करने मे उसने कुछ भी कसर नहीं रखी। हाथ जोड़ कर और शब्दो मे उसने भाग की भीख मांगी। ... रात तक सीता की स्पृहा मे वह तड़पता रहा और अंत मे उसी से बरबाद हो गया ... मर गया। स्पृहा का यह स्वभाव ही है कि यह जीव से ... दीनता करवाती है ... करवाती है, ... करवाती है। ... मुनि ... भी पर-पदार्थों की स्पृहा ... । जो मुनि ... दीन-हीन याचक

बनना पड़ा है उससे क्या आप अनजान हैं ? वस्त्र, पात्र, उपधि, मान.... सन्मान...किसी चीज की स्पृहा नहीं चाहिये। स्पृहा की तीव्रता होते ही मनुष्य पुण्य-पाप के भेद को भूल जाता है। अपना स्थान व भूमिका भूल जाता है। "मैं कौन हूँ ? मेरे से इस प्रकार हाथ जोड़ कर व सिर झुका कर दीनता भरे शब्दों में याचना नहीं हो सकती।"

स्पृहारहित मुनिराज अनंतज्ञान-केवलज्ञान के पात्र हैं। जो अनंत ज्ञान का अधिकारी है वह पुद्गलों की स्पृहा करेगा ? सोने के ढेर उसे मिट्टी के ढेर दिखते हैं। सुन्दरियों के समूह उसे हड्डियों व मांस के पिंड दिखते है। जगत को तृणवत् जानकर जगत से निःस्पृह रहने वाला योगी ही परम ब्रह्म का आनन्द अनुभव करता है। परम आत्मस्वातन्त्र्य की मस्ती अनुभव करता है। ऐसी निःस्पृहता तक पहुँचने के लिये नीचे लिखे उपायों का जीवन में प्रयोग करना चाहिये। "जिस पदार्थ की स्पृहा करता हूँ–मन उसके पीछे भटकता है। परमात्मध्यान या शास्त्रस्वाध्याय में मन विक्षिप्त रहता है। वह पदार्थ मिलना तो पुण्याधीन है। पुण्योदय न हो तो नहीं मिले, पर इसके पीछे स्पृहा करने से मन मलिन बनता है पाप बंध होता है, अतः ऐसी पर पदार्थों की स्पृहा करने से क्या ?" ऐसे विचारों से मन को उनकी तरफ से फेर देना चाहिये।

'मेरे पास सब कुछ है। मेरी आत्मा सुख से परिपूर्ण है। मुझे किसी बात की कमी नहीं है। ऐसा सर्वोत्तम सुख मेरी आत्मा में है, विश्व में कहा भी नहीं है। फिर दूसरी स्पृहा किस लिए करूं ?' इस भावना से आत्मा को प्रतिदिन भावित करना चाहिए।

"यदि मैं पर-पदार्थों की स्पृहा करूँगा तो जिनके पास ये पदार्थ होंगे उनकी मुझे गुलामी करनी पड़ेगी। उनके आगे दीनतापूर्वक याचना करनी पड़ेगी। याचना करते हुये भी न मिल सके तो रोष या रुदन होगा। मिल जायेंगे तो राग या रति होगी। इन सबसे आत्मा और परमात्मा की विस्मृति हो जायेगी। इससे संयम की आराधना शिथिल हो जायगी और भव २ में भटकना पड़ेगा।" इस प्रकार विचार कर स्पृहा की वासना को निर्मूल करना चाहिये।

'जिस पदार्थ की स्पृहा करता हूं, मन उसके पीछे भटकता है। परमात्म ध्यान में व शास्त्र-स्वाध्याय में मन विक्षिप्त रहता है। वह पदार्थ की प्राप्ति तो पुण्याधीन है, पुण्योदय न हो तो प्राप्ति नहीं होती, परन्तु उस के पीछे स्पृहा करने से मन मलिन बनता है, पापबंध होता है, अतः अब मैं पर पदार्थों की स्पृहा नहीं करूँगा।' इस विचार से मन का झुकाव बदलना चाहिए।

"जैसे बने वैसे जीवन में पर-पदार्थों की आवश्यकता कम ही रखनी। पर-पदार्थों की विपुलता में अपनी महत्ता का मूल्यांकन नहीं करना। पर-पदार्थों की अल्पता में ही अपनी महत्ता समझनी।'

"निःस्पृह आत्माओं में विशेष परिचय रखना। निःस्पृह योगीश्वरों के जीवन-चरित्र का बराबर परिशीलन करना।"

"आवश्यक पर-पदार्थों (गोचरी-पानी उपधि-वस्त्र-पात्र वगैरह) की भी इतनी स्पृहा नहीं करनी कि जिनके पीछे दीनता करनी पड़े। कदाचित् नहीं मिले तो उनके बिना चला लेने का तपोबल बनाना चाहिये। सहनशक्ति का निर्माण करना चाहिए।

छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण स्पृहाविषलतां बुधाः ।
मुखशोषं च मूर्च्छां च दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥३॥

यहा स्पृहा को 'विषवेल' की उपमा दी गई है । स्पृहा यानि विष की वेल । यह विषलता आत्म-भूमि पर अनादि काल से फलती फूलती आई है । आत्म-भूमि के प्रदेश २ में यह विषवेल अलग २ स्वरूप व अलग २ रंगो में फैली हुई है । इस विष-लता पर भिन्न २ स्वाद व भिन्न २ रूप-रंग वाले फल आते हैं परन्तु उन फलों का प्रभाव एक समान होता है ।

पौद्गलिक पदार्थो की स्पृहा यहाँ अभिप्रेत है । अनुकूल पदार्थो की स्पृहा जब जाग्रत हो तब समझना चाहिये कि विष-वेल खिल उठी ! यह स्पृहा जब तीव्र बनेगी तब मनुष्य बार २ मूर्छित हो जायगा, मुख सूख जायगा, चेहरे पर सफेदी आ जायगी, शब्दों में दीनता आ जायगी ...और जीवन की आंतरिक प्रसन्नता लुप्त हो जायगी ।

स्पृहा .. स्पृहा की कोई मर्यादा है ? नही । स्पृहा का विष आत्मा के प्रदेश २ में व्याप्त हो गया है । आत्मा विष-मय बन गई है । एक भयंकर सर्प का रूप उसने धारण किया है । मनुष्यदेहधारी भयानक सर्पो का विष आज समग्र विश्व को मूर्छित, निःसत्व और पामर बना रहा है । धन-सम्पत्ति की स्पृहा, रूपरमणियों की स्पृहा……मान-सन्मान व इज्जत की स्पृहा, रूप एवं सौंदर्य की स्पृहा .. बस, सदैव कोई न कोई स्पृहा के विष के फव्वारे उड़ते ही रहते है । फिर स्वस्थता, सात्विकता और शौर्य कहां से प्रकट होगा ? फिर भी मनुष्य स्पृहा करता है……करता हो जाता है । दुःख, त्रास, खेद, अशान्ति आदि सैकड़ो बुराइयां प्रकट होते हुए भी स्पृहा की आदत

छोडता नही है। जैसे हमने समझ लिया है कि 'जीवन स्पृहा के बिना जिया ही नही जा सकता। जब तक जीवन है तब तक स्पृहा करनी ही पडेगी।' भले ही आंशिक रूप मे यह बात ठीक हो। परन्तु स्पृहा की क्या मर्यादा नही हो सकती? तीव्र स्पृहा से क्या मनुष्य मुक्त नही हो सकता? हो सकता है। यदि वह ज्ञानमार्ग का सहारा ले तो विषयो की लालसा को वश मे रख सकता है। ज्ञानमार्ग का सहारा लेना यानि जड व चेतन के भेद का यथार्थ ज्ञान होना। स्पृहाजन्य अशान्ति की अकुलाहट होनी। स्पृहा की पूर्ति से प्राप्त होने वाले सुखो के प्रति उदासीनता होनी।

"मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हू सुखपूर्ण हू। मेरे और जड पौद्गलिक पदार्थों के बीच कोई सम्बन्ध नही है। मुझे किसलिये इनकी स्पृहा करनी?"

'जड पदार्थों की स्पृहा करने मे चित्त अशान्त बनता है। स्वभाव मे से परभाव मे चला जाता है। स्पृहा करने मे जब कि पदार्थ नही मिलते, तब हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापो के द्वारा इस स्पृहा को पूर्ण करने का अध्यवसाय होता है। अशान्ति तीव्र बन जाती है। अत ऐसे जड पदार्थों की स्पृहा करने से क्या लाभ?"

"स्पृहा पूर्ण हो जाती है तो प्राप्त पदार्थों पर गाढ आसक्ति पैदा हो जाती है। उनके सरक्षण हेतु चिंताएँ पैदा होती है। आत्मा के ज्ञानादि गुणो की रक्षा करने का ध्यान नही रहता है। व्यवहार मे आवश्यक बातें जैसे-नीति, न्याय, सदाचार उदारता, आदि गुण भी लुप्त हो जाते हैं। एक स्पृहा पूर्ण हुई कि दूसरी अनेक स्पृहा जाग्रत हो जाती हैं और उन्हें पूर्ण

करने में पूर्वप्राप्त सुख का भी उपभोग नहीं हो सकता। इस तरह निरंतर स्पृहा जाग्रत होती रहे और जीव उन्हें पूर्ण करने की मजदूरी करता रहे ! न शान्ति, न प्रसन्नता व न ही आत्मगुणों का अविर्भाव ! ''

इस प्रकार अनेक ज्ञानदृष्टि खुल जायें तो विष-वेलें सूखे बिना नहीं रहेगी। अतः यहां कहा है कि ज्ञानरूपी दांतली से स्पृहारूपी विष-लता को काट डालिए।

निष्कासनीया विदुषा स्पृहा चित्तगृहाद् बहिः।
अनात्मरतिचाण्डाली संगमङ्गीकरोति या ॥४॥

स्पृहा व अनात्मरति, दोनो का प्रगाढ सम्बन्ध है। स्पृहा को अनात्मरति के बिना चल नही सकता और अनात्मरति को स्पृहा के बिना चल नही सकता ! पूज्य उपाध्यायजी यहां स्पृहा को घर से बाहर निकाल देने की सलाह देते हैं और उसका प्रयोजन बताते है। स्पृहा अनात्मरति का संग करती है, अर्थात् स्पृहा को घर से बाहर निकाल देनी चाहिये चूंकि यह अनात्मरति के संग चढ़ी हुई है।

स्पृहा कहती है : मेरा क्या कसुर है कि मुझे घर से बाहर निकाल देते हो ?

उपाध्यायजी : 'तू अनात्मरति' की संगत करती है इसलिये।'

स्पृहा : 'वह तुम्हारा क्या बिगाड़ती है ?'

उपाध्यायजी : तुम दोनों शामिल होकर 'आत्म रति' जो कि हमारे घर की रानी है, सुशीला है, घर का आधार है, उसे दुःखी कर रही हो, उसका अस्तित्व मिटाने को उतारु हैं।

हाँ, तुम अनात्मरति का सग छोड दो व आत्मरति का सग कर लो तो तुम आनन्दपूर्वक हमारे चित्तमन्दिर मे रह सकती हो। परन्तु पहले उस चाडालिनी का मोह तुम्हें छोडना पडेगा।'

अनात्मरति यानि जडरति पुद्गलानन्द। जड पदार्थो का आकर्षण होने के बाद उन पदार्थों मे जो सुख की कल्पना होती है व उस कल्पना मे जो अनेक प्रकार की मधुरता का भास होता है, वह "अनात्मरति" है। उस अनात्मरति को यदि सद्विचार व तत्त्वचितन से रोकने मे नही आती है तो अनात्म-रति जिन पदार्थो को लेकर जाग्रत हुई होती है स्पृहा उन्ही पदार्थो के पीछे दौडती है। अर्थात् अनात्मरति आगे बढकर जब स्पृहा का रूप धारण कर लेती है तब वह स्पृहा आत्मा मे एक विस्फोट पैदा करती है।

यहा पूज्य उपाध्यायजी ने स्पृहा की एकान्त हेयता से इन्कार कर उसकी उपादेयता भी बताई है। अनात्मरति मे से उत्पन्न स्पृहा हेय है, आत्मरति मे से प्रकट होने वाली स्पृहा उपादेय है।

आत्मा के उत्थान की अभिलाषा प्रकट होने के बाद सद्गुरु की स्पृहा जाग्रत होती है, सम्यग्ज्ञान की स्पृहा जाग्रत होती है, सयम के उपकरणो की स्पृहा जाग्रत होती है, सयम मे सहायक साधुओ की अभिलाषा रहती है, शासन की रक्षा की इच्छा रहती है, समग्र जीवो के कल्याण की भावना रहती है, मोक्षप्राप्ति की आकाक्षा जाग्रत होती है, ये सब स्पृहाए उपादेय हैं। चूकि उसके मूल मे आत्मरति है।

जिसके मूल मे अनात्मरति है ऐसी इच्छाएं, स्पृहाये या अभिलापाये, भले ही वे दिखावे में तप-त्याग व संयम की हो परन्तु वे हेय है, त्याज्य हैं। 'मै तप करू गा तो मेरा सन्मान होगा, मैं ज्ञानी बनूंगा तो मेरी पूजा होगी, मै सेवा-भक्ति करू गा तो मुझे धन्यवाद मिलेगा।' ऐसी सब स्पृहाओ के मूल में अनात्मरति है, इसलिये ऐसी स्पृहायें नही करनी चाहिये। ऐसी स्पृहाओं को मन से बाहर निकाल देनी चाहिये। जब कोई भी स्पृहा साधक के मन में पैदा हो तो उसे यह विचार करना चाहिये कि 'इस स्पृहा से अनात्मरति तो पुष्ट नही होती?' आत्मसाक्षी से यह विचार करना चाहिये। जब तक यह चिंतन नहीं होगा तब तक अनात्मरति चंडालिनी के संग से स्पृहा आत्मघर को बरबाद कर देगी। भूतकाल की बरबादी भी इसी प्रकार हुई है।

आपकी विद्वत्ता, आराधकता, साधकता वगैरह इस बात पर निर्भर है कि आप अनात्म-रतिसहित स्पृहा को मन घर से बाहर निकाल देते है या नही। यदि बाहर निकाल देते हैं तो ही आप विद्वान है, आराधक हैं और साधक है, अन्यथा नही।

स्पृहावन्तो विलोक्यन्ते लघवस्तृणतूलवत् ।
महाश्चर्यं तथाप्येते मज्जन्ति भववारिधौ ॥५॥

याचना .. भीख....मनुष्य का नैतिक पतन करती है। कोई एक विषय की स्पृहा जाग्रत हो जाने के बाद उसे प्राप्त करने के लिए दीनता करनी, भीख मांगनी, याचना करनी यह साधना-रत साधु के लिये उचित नही है। यहां मुनि को लक्ष्य

बनाकर यह प्रतिपादन किया गया है। साधु को स्पृहावन्त नही होना चाहिये।

स्थूलभद्रजी की प्रतिस्पर्धा करने के लिये कोश्या वश्या के घर जाने वाले सिंहगुफावासी मुनि के जीवन का पतन करने वाली स्पृहा की क्रूर कहानी क्या आप नही जानते ? 'कोश्या जैसी मगध-नृत्यांगना की चित्रशाला मे जाकर मैं भी चातुर्मास करूंगा।' मिथ्या आत्मविश्वास लेकर वे कोश्या के द्वार पर आये, कोश्या की कमनीय कोमल काया का प्रथम दर्शन कोश्या के कठ के मधुर शब्दो का प्रथम श्रवण बस, सिंहगुफावासी मुनि का सिंहत्व पलायन कर गया। अनात्मरति जाग्रत हो गई, स्पृहा उसके सहारे दौडकर आ गई। सिंहगुफा-वासी मुनि कोश्या के सुकोमल काया की स्पृहा के विष से व्याप्त हो गये। प्रगाढ अरण्य पर व हजारो वन्य पशुओ पर आधिपत्य करने वाले, वनराजाओं के सामने महान् सात्विक होकर और मेरुसदृश निष्प्रकप बन कर चार माह तक डटे रहने वाले मुनि कोश्या के सामने तृण से भी हल्के बन गये आक की रुई से भी हल्के हो गये। तभी तो कोश्या के कटाक्ष के एक ही वायु वेग मे मुनि नेपाल मे जा पडे। कोश्या के कटाक्ष की वायु उन्हे नेपाल मे उडा ले गई। चूंकि विषयो की स्पृहा ने मुनि के आन्तरिक सयम की दृढता के वजन को तोड डाला था व मुनि को तृण समान हल्का बना दिया था।

आषाढभूति के पतन मे भी स्पृहा की ही निन्दनीय करामात काम कर गई थी। "मोदक" की स्पृहा ! जिह्वेन्द्रिय के विषय की आकाक्षा यह उसे बारबार अभिनेता के घर पर खीचकर ले गई। अभिनेत्रियो के परिचय मे ले गई

...आकाक्षा ने अपने क्षेत्र का विस्तार किया, मोदक की स्पृहा का विस्तार हुआ । मदभरी मानीनियों की आकांक्षा दृढ़ हो गई । स्पृहा का तूफानी वायुवेग शुरु हुआ । आपाढभूति मुनि की हल्की बनी हुई आतमा उड़ गयी और अभिनेत्रियों के घर में जा गिरी ! एक तृण की तरह स्पृहा की वायु में वह भटकने लगी ।

चाहे जितना तूफानी वायुवेग हो, वह सुमेरु को नही कपा सकता । हिमाद्रि के शिखरो को प्रकंपित नही कर सकता । जिन महात्माओं का आतमभाव मेरु के समान निश्चल होता है, स्पृहा की वायु उन्हे अस्थिर नही कर सकती । स्पृहा उनके अन्त.स्थल में प्रवेश ही नहीं कर सकती । हाँ, यदि स्पृहा अन्त-स्थल में प्रवेश कर गई तो भीतर की लोहशक्तिसदृश आत्म-परिणति नष्ट होते देर नहीं लगती । अगर वह महान् शक्ति नष्ट हो गई तो वायु के सख्त सपाटे उसे भूशरण कर देगें ।

स्पृहावन्त जीव हल्का बन जाता है फिर भी इस ससार में डूब जाता है ! वास्तव में हलका मनुष्य तो समुद्र को पार कर जाता है ! हल्की चीज को वायु उड़ा ले जाती है ! फिर स्पृहावन्त को वायु नही खेच ले जाती ! इसका क्या कारण है ? स्पृहावन्त वजन से हल्का नहीं, परन्तु व्यक्तित्व से हल्का हो जाता है । स्पृहावन्त को वायु किस लिए ले जाय ? वायु भी विचार करती है कि "इस भिखारी को मैं ले जाऊंगी तो मेरे से भी यह बार-२ भीख मांगेगा ।' इसलिये वह भी नही ले जाती । याद रखिए, स्पृहा करने से आप दुनिया की दृष्टि में हल्के लगते हों । और यही हल्कापन आपको भव समुद्र में डूबा देगा ।

गौरव पौरवन्द्यत्वात् प्रकृष्टत्व प्रतिष्ठया ।
ख्याति जातिगुणात् स्वस्य प्रादुष्कुर्यान्न निःस्पृहः ॥६॥

जिस श्रमण ने अनात्मरति व पुदगलरति को तिलाँजलि दे दी है वह श्रमण क्या पुद्गलभावो पर निर्मित गौरव प्रतिष्ठा एव प्रसिद्धि को चाहेगा ? क्या वह स्वय उसे प्रकट करेगा ? नगरवासी मनुष्यों के भक्तिपूर्ण अभिनन्दन, राजा महाराजा एव सत्ताधीश सज्जनो द्वारा अर्पित व्यापक मा यता, उत्तम वश, महान् जाति और विशाल कुटुम्ब द्वारा पैदा होने वाली प्रसिद्धि, यह सब महामुनि की दृष्टि में कुछ भी महत्व नही रखता । इन सब की तरफ ब्रह्ममस्त महात्मा की दृष्टि निमम एव नि स्पृह होती है ।

नगरवासियो की प्रशसा, स्तवना और वदना के माध्यम से मुनि अपना गौरव नही मानता । उसके मन पर उसका कोई प्रकार का असर नही होता । राजा-महाराजाओ और सत्ताधीशा की दुनिया में प्रचलित उसकी गुण-गाथा से भी नि स्पृह योगी अपनी उच्चता का खयाल नही करता । देश-देशा तर मे समस्त बाल-गोपाल के मुँह से लिया जाता उसका नाम भी उसके हृदय में खुशी नहीं भरता । इस सब को उसका मन 'पर पुद्गल-भाव' समझता है । पुद्गल-भाव मे से उसका मन उठ गया होता है । फिर उसमे आन द किस तरह अनुभव करें ? अरे, इतना ही नहीं, दुनिया मे फैली हुई कीर्ति, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि का वे अपने स्वसुख के लिये या स्वरक्षा के लिये भी उपयोग नहीं करते । चूकि वे शरीर व शरीर के सुख से नि स्पृह होते ह । जब क चनपुर का नरेश हाथ मे तलवार लेकर रोष से धमधमाता हुआ महामुनि झाझरिया का वध

करने आया, तब महामुनि ने क्या किया था ? क्या उन्होंने यह कहा था क "राजन् आप किसको मारने आये हैं ? आप मुझे जानते हैं ? प्रतिष्ठानपुर के मदनब्रह्म कुमार को नही जानते ? आपको पता नहीं है कि कुमार ने राज्य को त्याग कर श्रमण-पथ स्वीकार किया है ? क्या आप नहीं जानते कि मैं आपका साला हूं ?'

इस तरह से अपना राजवंश, अपना त्याग, राजा के साथ का सबंध आदि उन्होने क्यों नहीं प्रकट किया ? यह निश्चित सत्य था कि यदि वे सब बाते जाहिर कर देते तो राजा उसी समय तलवार को फैंककर उनके चरणो मे गिर पड़ता। परन्तु महामुनि तो नि:स्पृह थे। उन्होंने पर-पुद्गल भावो से अपनी पहचान देना पसन्द नही किया, अपितु खुदे हुये खड्डे में खड़े होकर राजा के तलवार के प्रहारों को सहन करना पसन्द किया। इस प्रकार उन नि.स्पृह मुनि ने सिद्धि प्राप्त कर ली।

अपने ही मुख से अपना ही गौरव गाना, अपनी ही वाणी से अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की स्तवना करना और स्वय की ही रसना से अपने कुल वंश व नाम को जाहिर करना......ऐसा नि:स्पृह मुनि के जीवन में देखने को नही आता और यदि दिख जाय, तो मुनि के जीवन में से नि:स्पृहता नष्ट हो गई, ऐसा समझना चाहिये। प्रतिष्ठा एवं प्रसिद्धि की स्पृहा साधक को आत्मभाव की प्राप्ति नही होने देती। साधक केवल नाम रूप साधक रह जाता है, साधना समाप्त हो जाती है। प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि की स्पृहा कभी भी तृप्त नही होती, यह बढती ही जाती है। जिन्दगी के अन्तिम श्वास तक इसे तृप्त करने का प्रयास चालू रहता है। परिणाम

यह होता है कि आत्मा अनात्मरति की वासना लेकर परलोक प्रयाण करती है।

नि स्पृह बनने के लिये अपनी प्रशंसा व अपनी प्रसिद्धि अपने मुंह से प्रकाशित नहीं करनी, यह एक सुन्दर उपाय है और नि स्पृहता के लिये यह एक अनिवार्य शर्त भी है।

भूशय्या भैक्षमशनं जीर्णं वासो गृहं वनम्।
तथाऽपि नि स्पृहस्याहो चक्रिणोऽप्यधिकं सुखम् ॥७॥

नि स्पृह महात्मा विश्व का सर्वाधिक सुखी मनुष्य है। भले ही वह भूमि पर शयन करे व भले ही भिक्षावृत्ति से भोजन प्राप्त करता है, भले ही वह जर्जरित वस्त्र धारण करता है, और भले ही वह अरण्य मे निवास करता है। फिर भी वह उन सब से महान् सुखी है जो स्वर्णनिर्मित पलंग पर बिछाये हुये मुलायम बिछौने पर शयन करते हैं, जो प्रतिदिन मन माने पटरस के भोजन करते हैं, जो बहुमूल्य रेशमी, टेरेलीन या नायलोन के वस्त्र धारण करते हैं और जो विशाल सम्पूर्ण अनुकूलता वाले बंगले मे निवास करते हैं।

चूंकि नि स्पृह योगी ऐसा जीवन पसंद करता है कि जिनमे उन्हें कम पदार्थों की आवश्यकता पड़े। पर-पदार्थों की कम से कम स्पृहा करनी पड़े। पर-पदार्थों की जितनी स्पृहा कम हो उतना ही सुख ज्यादा है। सोने के लिये एक पत्थर की शिला, खाने के लिये एक बार रूखा-सूखा अल्प भोजन, पहनने के लिये जीर्ण शीर्ण दो तीन कपड़ो के टुकड़े, रहने के लिये विशाल वन! बस, योगी की धन-सम्पत्ति गिने तो इतनी! उसे कभी स्पृहा हो तो केवल इतनी ही। उसे यदि कभी दुःख सतावे तो सिर्फ इसी बची-खुची स्पृहा के कारण!

जहां २ पर-स्पृहा वहां २ दुःख। जहां पर-स्पृहा नहीं वहां पर दुःख नही। इस सिद्धान्त में नही है अव्याप्ति, अतिव्याप्ति या असंभव का दोष। मनुष्य को अपने जीवन पर दृष्टिपात करना चाहिये। यदि जीवन में कोई दुःख है तो उसे देखना चाहिये कि दुःख कैसे उत्पन्न हुआ ? तब दृष्टिगोचर होगा कि कोई जड़ या चेतन पदार्थ की आकांक्षा उसके चित में रही हुई है, उसीके परिणामस्वरूप वह दुःखी है।

भोगी हो या योगी हो, पर-पदार्थों की आकाँक्षा जिसके भी हृदय में जाग्रत हुई, वह दुःखी ! परपदार्थ की आकाक्षा जिसके हृदय में से दूर हुई वह सुखी। कडरिक मुनि तब तक सुखी थे जब तक कि राजा के घर का भोजन प्रिय नही लगा था। राजा का भोजन प्रिय लगा, और उसकी स्पृहा जाग्रत हो गई, उनका मन दुःखी बन गया। उन्होंने साधु जीवन का त्याग किया, स्पृहा को पूर्ण करते २ उनके जीवन का अ त आ गया। सातवी नरक के दुख में धकेल दिये गये।

पर-पदार्थों की स्पृहा मन में न जगे, इसलिये जीवन मे पर-पदार्थों का परिचय कम करना चाहिए। पर-पदार्थों के द्वारा प्राप्त होने वाले सुख की कामना त्याग देनी चाहिये। चूंकि मनुष्य वहा ही फिसल जाता है। "पर-पदार्थ द्वारा सुख प्राप्त होता है।" यह कल्पना इतनी ज्यादा दृढ बन गई है कि मनुष्य निरंतर पर-पदार्थों की अभिलाषा करता रहता है। ज्यो ज्यों पर-पदार्थ उसे मिलते जाते हैं वैसे २ उन्हे एकत्रित करने की आकाक्षा भी बढ़ती जाती है और साथ २ दुःख भी बढ़ता जाता है। फिर भी वह यह नहीं समझ सकता कि उसके दुःख का कारण उसके पर-पदार्थों की आकाक्षा ही है। वह तो यह बात मान बैठा है कि "मुझे मेरे मनपसंद पदार्थ नही मिलते है इसलिये

मैं दुखी हूं ।' उसकी यह भावना उसे मनपसन्द पदार्थ प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करने को प्रेरित करती है। दुःख तो उसका दूर नहीं होता, और इसी रीति से जीवन पूर्णकर अनन्त विश्व मे पुन खो जाता है।

"नि स्पृहत्व महासुखम्" पूज्य उपाध्याय जी के इस वचन के साथ "भक्त परिज्ञा" सूत्र का "निरभिकंखो तरइ दुत्तर भवोय" वचन जोड दें। निरपेक्ष आत्मा इस दुस्तर भव समुद्र को पार कर जाती है। नि स्पृहता के महान् सुख का अनुभव करने वाली आत्मा दु खपूर्ण भवोदधि को पार कर परमसुख, अनंत सुख को प्राप्त करती है। नि स्पृहता की यह अन्तिम सिद्धि है। अथवा कहो कि अंतिम सिद्धि का सीधा सरल और सचोट मार्ग नि स्पृहता ही है।

स्पृहा कर-करके प्राप्त सुख की अपेक्षा स्पृहा को त्याग २ कर प्राप्त किया हुआ सुख स्थाई, अनुपम, और निर्विकार होता है, इस बात पर विश्वास कर नि स्पृहता के महान् मार्ग पर प्रगति करें।

१३ : मौन

मन्यते यो जगत् तत्त्वं सः मुनि परिकीर्तितः ।
सम्यक्त्वमेव तन्मौनं मौनं सम्यक्त्वमेव वा ॥१॥

मोक्षमार्ग की आराधना यानि मुनि जीवन की आराधना । मोक्षमार्ग की आराधना करने की अभिलाषा वाले जीवात्मा को मुनिजीवन की आराधना करनी ही चाहिये । मुनिजीवन की आराधना करने के लिये मुनिजीवन का स्वरूप यथार्थ-रूप से जानना चाहिये । वह यथार्थ-स्वरूप जो कि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा का बताया हुआ है । मुनिजीवन का यथार्थ स्वरूप जानकर उसके अनुसार आचरण करना चाहिये ।

यहां मुनिपन का स्वरूप "एवंभूत" नयदृष्टि से बताया गया है । विश्व में प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ अनन्त धर्मात्मक होता है । अर्थात् एक वस्तु में अनत धर्म विद्यमान होते हैं । एक-२ धर्म, वस्तु का एक-२ स्वरूप है । इस प्रकार वस्तु एक होते हुए भी उसके अनत स्वरूप होते हैं । वस्तु की पूर्णता उसके अनंत स्वरूप के सामूहिक रूप से होती है । कोई एक ही स्वरूप को लेकर वस्तु का विचार किया जाय तो उस विचार को 'नयविचार' कहा जाता है । प्रस्तुत में "मुनि" जो कि एक चेतन पदार्थ है, उसके अनंत स्वरूपों में से ही एक स्वरूप का विचार किया जाता है । यह विचार "एवभूत" नय का विचार है । एवंभूत नय शब्द और अर्थ दोनों को विशेष दृष्टि से देखता है ।

घडा ऐसा शब्द व घडा ऐसा पदार्थ, दोनो के प्रति एव-भूत नय की विशेष दृष्टि है। शब्दशास्त्र के नियमानुसार शब्द कि जो व्युत्पत्ति होती हो वह व्युत्पति-सन्दर्शित पदार्थ ही वास्तव मे पदार्थ है। और शब्द भी वही तात्त्विक है, जो उसी प्रकार की नियत क्रिया मे पदाथ को स्थापित करता हो। इसलिये इस नय ने घडे को घडा तब माना है कि जब स्त्री आदि के मस्तक पर वह रहा हो और पानी लाने-लेजाने की क्रिया हो रही हो। पानी लाने और ले जाने की क्रिया के स्वरूप मे एवभूत-नय घडे को देखता है। इस प्रसिद्ध क्रिया मे रत घडे का बोध कराने वाले के रूप मे 'घडा' शब्द इस नय को महमत है।

मुनि शब्द की व्युत्पत्ति है "मन्यते जगत्तत्त्व स मुनि ।" 'मुनि' ऐसे शब्द का तात्त्विक अथ यह है कि 'जो जगत के तत्त्वो को जाने वह मुनि।' मुनि के अनन्त स्वरूपो मे से एव स्वरूप का यहा एवभूत नयदृष्टि मे देखा गया है। जगत्-तत्त्व को जानने के स्वभाव स्वरूप मुनि को यहाँ देखा गया है। अर्थात जगत तत्त्व का परिज्ञान मुनि-स्वरूप का माध्यम बना।

"जगत् जिस स्वरूप मे है उसी स्वरूप मे ही उसे जानना" यही मुनिपन है। यही सम्यक्त्व है। चूकि यथाथ जगत्-स्वरूप का ज्ञान समकित है।

जगत्तत्त्व का ज्ञान=सम्यक्त्व
सम्यक्त्व=मुनिपन
जगत तत्त्व का ज्ञान=मुनिपन

मुणी मोण समायाए धुणे कम्मसरीरग।
पत नूह च सेवति वीरा समत्तदसिणो ॥
—उत्तराध्ययन

ऐसे मुनि जीवन को ग्रहण कर मुनि कार्मण शरीर का नाश करता है यानि आठ कर्मों का नाश करता है। जब जगत्तत्व के ज्ञानरूप मुनिपन आता है तब वह सम्यग्दर्शी वीर पुरुष रूखा-सूखा भोजन करते है। चूंकि उन्हें इष्ट-मिष्ट-पुष्ट भोजन पर कोई ममत्व नहीं होता।

जगत्-तत्व का ज्ञान द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयदृष्टि से, द्रव्य-गुण और पर्याय की शैली से, निमित्त-उपादान की पद्धति से तथा उपसर्ग-अपवाद के नियमों से होना चाहिये।

आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्धं जानात्यात्मानमात्मना।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याचारैकता मुनेः ॥२॥

आत्मसुख की स्वाभाविक संवेदना के लिये ज्ञान, श्रद्धा और आचार की अभेदपरिणति होनी चाहिये। इस अभेद परिणति का स्वरूप एवं उपाय, दोनो ही यहां बताये गये है।

१. आत्मा
२. आत्मा के भीतर ही
३. आत्मा के द्वारा
४. विशुद्ध आत्मा को जाने।

जानने वाली आत्मा। जाने आत्मा में। जाने आत्मा के द्वारा। जाने विशुद्ध आत्मा को। तब उसके ज्ञान, श्रद्धा और आचार एकरस बन जाते हैं। आत्मा सहज स्वाभाविक आनन्द से भर जाती है। पर पुद्गलों में बिलकुल निर्लेप बन कर, सम्पूर्ण निरपेक्ष बनकर आत्मा को जानने की क्रिया करनी है। आत्मा को ही जाननी है। कैसी आत्मा को? कर्मो के काजल से मुक्त आत्मा को जाननी है। ऐसी आत्मा को देखनी

है कि जिस पर ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य, इन आठ कर्मों का लेश मात्र ही प्रभाव न हो। 'सम्पूर्ण स्वतन्त्र आत्मा' को जानना चाहिये। जानने की क्रिया मे सहायता की आवश्यकता पडे तो आत्मा की व आत्मा के गुणो की ही सहायता लेनी चाहिये।

हाँ, जानने की क्रिया मे दो बातो का ध्यान रखना चाहिये। 'ज्ञपरिज्ञा' व 'प्रत्याख्यान परिज्ञा' इन दो परिज्ञाओं से आत्मा को जानना चाहिये। ज्ञपरिज्ञा आत्मा का स्वरूप बताती है, और प्रत्याख्यान परिज्ञा उसके अनुरूप पुरुषार्थ कराती है। आत्मा को कही और जाकर जानने की आवश्यकता नही है, आत्मा मे ही उसको जानना है। अनन्त-गुणयुक्त एव पर्याययुक्त आत्मा मे से ही विशुद्ध आत्मा की जानकारी प्राप्त करनी है। परन्तु जानने वाली, जानने की अभिलाषा रखने वाली आत्मा को "मोह" का त्याग करना चाहिए। तभी यह आत्मा मे से आत्मा को जान सकेगी।

"आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद् यदात्मनि।
तदेव तस्य चारित्र तज्ज्ञान तच्च दर्शनम् ॥

कितनी स्पष्ट सुदर एव हृदयग्राही बात कही है! मोह का त्याग करो व आत्मा मे ही आत्मा को देखो। बस, यही आपका ज्ञान है, यही आपकी श्रद्धा है व यही चारित्र है। श्रुतज्ञान द्वारा जैसे ही आत्मा ने आत्मा को पहचानी, 'अभेद नय' से वह 'श्रुत केवली' बनी। चूंकि आत्मा सर्वज्ञानमय है।

१ आत्मा (मोह त्यागी)
२ आत्मा को (सब ज्ञान-मय)

३. आत्मा के द्वारा (श्रुतज्ञान)
४. आत्मा में (सर्वगुण-पर्यायमय)

जानो ।

जो हि सुण्णाभिगच्छइ अप्पाणमणं तु केवलं शुद्ध ।
त सुअकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥
—समयप्राभृते

'जो श्रुतज्ञान के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, उन्हें संसार में प्रकाश करने वाले ऋषियो ने श्रुतकेवली कहा है ।'

"आत्मा अनादि-अनन्त केवलज्ञान-दर्शनमय, कर्म से अलिप्त और अमूर्त है ।' ऐसा निश्चय होने पर मैं साध्य-साधक और सिद्ध स्वरूप हूँ। ज्ञान-दर्शन एवं चारित्रादि गुणमय हूँ ।' ऐसी अपूर्व ज्ञानदशा प्रकट होती है, यह रत्नत्रयी की अभेद परिणति है । उसमें आत्मसुख की अनुपम संवेदना अनुभव होती है ।

चारित्रमात्मचरणाद् ज्ञानं वा दर्शनं मुनेः ।
शुद्धज्ञाननये साध्यं क्रियालाभात् क्रियानये ॥२॥

आत्मा के अनुसार चलना यह है चारित्र । मुनि का साध्य–ध्येय यह चारित्र है । इस चारित्र का स्वरूप शुद्ध 'ज्ञान-नय' और "क्रिया नय" के आधार पर यहाँ बताया गया है ।

शुद्ध ज्ञान–नय (ज्ञानाद्वैत) कहता है कि चारित्र बोध-स्वरूप है । आत्मस्वरूप का अवबोध यही चारित्र है । इसका विश्लेषण इस प्रकार है:—

चारित्र

= आत्मा के अनुसार चलना।
= पुद्गलभावो से निवृत्त होना।
= आत्मस्वरूप मे रमण करना।
= आत्मा जो कि अनतज्ञानस्वरुप है उसमे रमण करना।
= चारित्र यानि आत्मा के ज्ञानस्वरूप मे रमणता।

निष्कर्ष यह है कि आत्म-ज्ञान मे स्थिरता यही चारित्र और चारित्र का अर्थ है आत्म-ज्ञान मे रमण करना। ज्ञान और चारित्र का अभेद है।

ज्ञाननय (ज्ञानाद्वैत) आत्मा के दो ही गुण स्वीकार करता है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। चारित्र ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग रूप है। उसका अभेद है। हाँ, व्यापार के भेद से ज्ञान त्रिरूप भी है। जब तक विषयप्रतिभास का व्यापार हो तब तक ज्ञान। जब आत्म-परिणाम का व्यापार हो तब वही सम्यक्त्व और आश्रवो का निरोध होने से जब तत्त्वज्ञान मे व्यापार हो तब वही ज्ञान चारित्र है।

क्रिया-नय का मतव्य इस प्रकार है-आत्मस्वरूप का मात्र ज्ञान, यही चारित्र व यही साध्य है, ऐसा नही है। जीव को आत्मा का ज्ञान होने के पश्चात् तदनुरूप क्रिया, उसके जीवन मे आनी चाहिये।

'ज्ञानस्य फल विरति
विरतिफल आश्रवनिरोध
सवरफल तपोबलम्
तपसो निर्जराफल दृष्टम्।'

मुनि के लिए जो चारित्र साध्य है, वह मात्र ज्ञान स्वरूप नही है परन्तु ज्ञान के फलस्वरूप है। ज्ञान का फल है विरतिरूप क्रिया, आश्रवनिरोध की क्रिया, तप की क्रिया व निर्जरा की क्रिया। इन क्रियाओ की प्राप्ति रूप "चारित्र" मुनि का साध्य है। ऐसे साध्य की सिद्धि करने का कठिन पुरुषार्थ करना चाहिये। इस प्रकार पुरुषार्थ करने से साध्य सिद्धि होने पर आत्मतत्त्व निरावरण (कर्मरहित) प्रकट होता है तब फिर आत्मा ज्ञाननय से साध्य बनती है।

'आत्मा के अनुसार चला कर जीव ! मन, वचन और काया सर्वस्व का विनियोग आत्मा में कर दे। आत्मा को केन्द्र में स्थापित कर आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को ख्याल में रखकर विचार-वाणी और आचार को रखो। यही चारित्र है। ज्ञान नय (ज्ञानाद्वैत) को मान्य आत्मज्ञान घट मे रख कर, उस विशुद्ध आत्मज्ञान को प्रकट करने का पुरुषार्थ करें। यही दोनो नयों का समूहात्मक उपदेश है। अनादिकालीन पुद्‌गलभावों की नियंत्रणा तोड़ने के लिये आत्मभाव की रमणता करते ही रहना चाहिये। उस रमणता के लिये ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना यही मुनि का साध्य है।

यतः प्रवृत्तिर्न मणौ लभ्यते वा न तत् फलम् ।
अतात्त्विकी मणिज्ञप्तिर्मणिश्रद्धा च सा यथा ॥४॥

तथा यतो न शुद्धात्मस्वभावाचरणं भवेत् ।
फलं दोषनिवृत्तिर्वा न तज्ज्ञानं न दर्शनम् ॥५॥

जो सचमुच मणि नही है, कांच का टुकड़ा है, उसे मणि मान ले और "यह मणि है।" ऐसी श्रद्धा भी कर ले, क्या ऐसी

मानी हुई मणि सच्चे मणि की प्रवृत्ति करेगी ? सच्चे मणि का कार्य करेगी ? और सच्ची मणि द्वारा होने वाला फल भी ऐसी काल्पनिक मणि द्वारा प्राप्त हो जायेगा ? अर्थात् जो वस्तु मणि का कार्य न करे और मणि मे प्राप्त होने वाला फल न दे सके उस वस्तु मे "यह मणि है" ऐसा ज्ञान व ऐसी श्रद्धा अतात्विक है, असत्य है। सच्ची मणि सर्पदश का जहर उतारने की क्रिया करती है। क्या काच का टुकडा जहर उतारेगा ? सच्ची मणि जौहरी को बेचने मे लाखो रुपये मिलेंगे, क्या काच के टुकडे के लाखो रुपये मिल सकते हैं ?

उसी प्रकार जिससे शुद्ध आत्म-स्वभाव मे प्रवृत्ति न हो और शुद्ध आत्मा का फल 'दोष-निवृत्ति' प्राप्त न हो वैसा ज्ञान, ज्ञान नही है। वैसी श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा भी नहीं है।

ज्ञान व श्रद्धा की यथार्थता नापने का कैसा उत्तम यत्र यहा बताया गया है । क्या शुद्ध आत्म-स्वभाव की निकटता करने वाला व आत्म-स्वभाव का अनुसरण करने वाला आचरण है ? क्या आपका राग-द्वेष और मोह मद मदतर होते जाते हैं ? यदि हाँ, तो आपका आत्मज्ञान व आत्मश्रद्धा यथार्थ है, ऐसा आपको समझना चाहिये।

आचरण मे विशुद्ध आत्मा का ओज चमकना चाहिए। कर्मो की कलक पक-कालिमा नही, कर्मो का विचित्र प्रभाव नही।

"मैं विशुद्ध आत्मा हूँ सच्चिदानदस्वरूप हूँ।" ऐसा आत्म-ज्ञान और ऐसी आत्मश्रद्धा जीवात्मा के मानसिक वाचिक व कायिक आचरण को प्रभावित करें। उसके मनोरथ कल्पनायें, आकाक्षायें व अभिलाषायें पौद्गलिक भावो से विमुख

व आत्मभावों के अभिमुख बन जायं। उसकी वाणी पर-भावों की निंदा-प्रशंसा से निवृत्त होकर आत्मभाव की अगम-अगोचर रहस्य-कथायें करती हो जायं। उसका इन्द्रिय-व्यापार पुद्गल भावों के शब्द-रूप-रस गंध और स्पर्श के सुख-दुःख से निवृत्त हो जाता है। और आत्माभिव्यक्ति के पुरुषार्थ की ओर अभिमुख हो जाता है।

ऐसे ज्ञान व श्रद्धा पर विश्वास रखकर बैठे नहीं रहना चाहिये कि जिस ज्ञान और श्रद्धा के द्वारा विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करने का पुरुषार्थ न होता हो, आत्मा के ज्ञानादि गुणों मे रमणता न होती हो, पुद्गल-प्रेम विकसित हो रहा हो, दारुण द्वेप दाह पैदा कर रहा हो, मोह का प्रगाढ़ अंधकार आत्मा में छा रहा हो। ज्ञान के तीक्ष्ण शस्त्रों से पुद्गलप्रेम के विकसित वृक्ष का छेदन कर देना है। ज्ञान के शीतल जल से दारुण द्वेप की आग बुझा देनी है। ज्ञान के दिव्य प्रकाश से मोह के प्रगाढ़ अंधकार का भेदन कर देना है। यह सब ज्ञान व श्रद्धा का फल है।

हृदय की पवित्र वृत्ति और वचन-काया की विशुद्ध प्रवृत्ति, "वृत्ति एवं प्रवृत्ति" की विशुद्धि दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाय, उससे आत्मा एक एकान्त सुख का अनुभव करती जाती है। मधुरतम शान्ति का आस्वादन करती जाती है। तात्पर्य यह है कि: ऐसा हृदयस्थ कर लेना चाहिये कि जिससे वृत्ति एव प्रवृत्ति आत्माभिमुख बन जाय। दोपों का नाश व गुणों का विकास होता जाय।

यथा शोफस्य पुष्टत्वं यथा वा वध्यमण्डनम्।

तथा जानन् भवोन्मादमात्मतृप्तो मुनिर्भवेत् ॥६॥

कोई मनुष्य का शरीर अशक्त व सूखी हुई लकड़ी के समान पतला है। वह अपने शरीर को सशक्त एवं पुष्ट बनाना

चाहता है । उसका शरीर एक दिन सूज गया। मुह हाथ पाव सूज गये । उसका कोई मित्र उसे बहुत दिनो से मिला, बोला

"मित्र पहले से तुम्हारा शरीर पुष्ट दिखता है।"

मित्र के इस प्रश्न का वह क्या उत्तर दे ? क्या सूजन से दिखने वाली पुष्टता को वह यथार्थ व सच्ची पुष्टता मान ले ? अरे, पुष्टता तो नही, उसे तो यह दिखने वाली पुष्टता भयकर रोग लगता है । दर्द लगता है । वह ऐसी पुष्टता को नही चाहता ।

कर्मों के उदय से, पुण्य कर्मों के उदय से प्राप्त होने वाली भौतिक सम्पत्ति की ओर मुनि की ऐसी ही दृष्टि होती है । कर्मजन्य रूप, सौन्दय, आरोग्य, सुडोलता आदि पुद्गल-नाता के प्रति मुनि "यह सच्ची पुष्टता नही है, परन्तु कर्म का भयकर रोग है।" ऐसा समझता है । शरीर पर ममत्व रखने वाले को जैसे सूजन रोग लगता है, उसी प्रकार आत्मा पर जिन ममत्व है उसे सम्पूर्ण शरीर ही रोगी लगता है । शारीरिक पुष्टता उसे वास्तविक पुष्टता नही लगती ।

प्राचीन काल मे ऐसा रिवाज था कि जिस मनुष्य को मृत्यु दड की सजा होती थी उसे वधस्थान पर ले जाते समय सजाया-सवारा जाता था, ढोल बजाया जाता था । क्या वध के लिए जाते हुए मनुष्य को यह शृङ्गार एव बाजे-गाजे मुस्कान द सकते होंगे ? क्या वह पुरुष पुष्पों की माला आदि को अपना शृगार मानकर खुश होता होगा ? नही भाई नहीं, वह शृगार उसे शृगार नही लगता, उसका हृदय तो वध की सजा से व्याकुल होता है ।

वस्त्रालकार और मान-सम्मान आदि पुद्‌गल भावों के प्रति मुनि उसी प्रकार उदासीन होता है। मृत्यु की निर्धारित सजा को भोगने के लिये निरंतर चल रहा मनुष्य कैसे पुद्‌गल-भावों में रति-आनन्द कर सकता है ? यदि उसने पुद्‌गल भावों का यथार्थ स्वरूप जान लिया है तो उसे पुद्‌गल भावो की रमणता एक प्रकार का उन्माद ही दिखेगा। चैतन्य स्वरूप शुद्ध बुद्ध निरंजन ...निराकार ...ऐसा आत्मद्रव्य होता है । देह के देवस्थान में विराजमान अनत ज्ञानी अनन्तशक्तिशाली देव का योगीपुरुष निरंतर ध्यान धरते हैं, नमस्कार व स्तुति करते है। उस ध्यान में नमन में और स्तवन में वे ऐसे अद्‌भुत माधुर्य का अनुभव करते है कि जिसके आगे पुद्‌गल-द्रव्य का उपभोग नीरस एवं तुच्छ होता है ।

आत्मध्यान में संतुष्टि होनी चाहिये । आत्मध्यान में सतुष्टि हुए विना पुद्‌गलभावों की क्रीड़ा छूटेगी नहीं। मन सतुष्टि चाहता है ! उसका यह स्वभाव है। आत्मभावो में यदि सतुष्टि नही हुई तो पुद्‌गलभावों में संतुष्टि अनुभव करने यह दौड़ेगा ही। वालक को खाने को यदि माता पौष्टिक पदार्थ नही देगी तो वालक मिट्टी खाने लग जायेगा। आत्मतृप्तो-मुनिर्भवेत् । मुनि को आत्मा में ही तृप्त वनना चाहिये । ऐसा तृप्त वनना चाहिये कि पुद्‌गलभावों का जरा भी आकर्षण न रहे। श्री रामचन्द्र जी चारित्र लेने के वाद आत्मभाव में ऐसे तृप्त हो गये थे कि सीतेन्द्र ने उनके सामने दिव्य गीतगान, नाटक और नृत्य का महान् आयोजन कर दिया, फिर भी रामचन्द्र जो को जरा भी आकर्षित न कर सके। इतना ही नही वरन् रामचन्द्र जी वहाँ घाती कर्मो का क्षयकर केवल-ज्ञानी वन गये ।

सुलभं वागनुच्चारं मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेषु अप्रवृत्तिस्तु योगीनां मौनमुत्तमम् ॥७॥

"मुँह से मात्र बोलना नहीं, शब्द का उच्चारण करना नहीं।" मौन की इतनी ही व्याख्या पर्याप्त नहीं है। "मौन" शब्द इस अर्थ में प्रचलित है, लोग समझते हैं कि 'मुँह से नहीं बोलना ही मौन है।' ऐसा मौन कई लोग धारण करते दिखाई भी देते हैं। परन्तु यहाँ ऐसे मौन की महत्ता नहीं बताई गई है। मनुष्य की भूमिका को लक्ष्य में रख कर मौन की एक महत्वपूर्ण एवं सर्वांग सुंदर परिभाषा करने में आई है।

मुँह से न बोलने रूप मौन तो पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय जैसे एकेन्द्रिय जीवों में भी होता है। क्या उन जीवों का वह मौन मोक्षमार्ग की आराधना का अंग बन सकता है? क्या ऐसे मौन से एकेन्द्रिय जीव कर्ममुक्त अवस्था के निकट पहुँच सकते हैं? 'मुँह से नहीं बोलना।' मौन का इतना ही अर्थ कर मनुष्य यदि मौन धारण करता हो और ऐसे मौन द्वारा मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ने की कल्पना करता हो तो यह उसकी कैसी भ्रमणा कहलायेगी?

मौन की व्यापक एवं यथार्थ परिभाषा कर कैसे "मौन" का आश्रय लें का पूज्य उपाध्याय जी उपदेश देते हैं।

१ मन का मौन
२ वचन का मौन
३ तन का मौन

आत्मा से भिन्न अनात्म-पोषक पदार्थों का चिंतन न करना, विचार न करना, यह है मन का मौन। हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि अशुभ पाप-विचारों का त्याग करना यह मन का मौन है। 'प्रिय पदार्थों का संयोग व अप्रिय पदार्थों का वियोग हो, प्रिय का विरह न हो, अप्रिय का संयोग न हो।" ऐसे संकल्पों व विकल्पों का त्याग करना यह मन का मौन है।

झूठे वचन न बोलना, अप्रिय व अहितकारी वचन न बोलना, क्रोधजन्य, अभिमानजन्य, मायाजन्य और लोभजन्य वचन न बोलना यह वचन का मौन है।

काया से पुद्गल-भावपोषक प्रवृत्ति का त्याग करना यह है तन का मौन। इस प्रकार तन, मन एवं वचन का मौन यथार्थ मौन है। मौन का यह निषेधात्मक स्वरूप है। इसी प्रकार विधेयात्मक स्वरूप भी है।

मन में आत्मभाव को पुष्ट करने वाले विचार करना, क्षमा, नम्रता, सरलता एवं निर्लोभता की भावनायें करनी, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग का मनोरथ करना, आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप का ध्यान धरना आदि मन का मौन है। इसी प्रकार वाणी से आत्मभावपोषक कथाएं कहनी, शास्त्रस्वाध्याय और परमात्मस्तुति वगैरह करना यह वचन का मौन है। काया से अध्यात्मभाव की ओर ले जाने वाली क्रियाएं करनी, तन का मौन है।

मन-वचन-काया के योगों की पुद्गल भावों से निवृत्ति और आत्मभावों में प्रवृत्ति, यह मुनि का मौन है। इस मौन को

धारण करता मुनि मोक्षमार्ग पर आगे बढता चला जाता है। इस मौन से उसे आत्मा के पूर्णानन्द की अनुभूति होती है। ऐसे मौन द्वारा ही आत्मा अनादिकालीन अशुभ वृत्ति-प्रवृत्तियो का अ त कर सकती है और शुभ एव शुद्ध वृत्ति-प्रवृत्तियो की तरफ गति कर सकती है। यहा पूज्य उपाध्याय जी ऐसे मौन का आदर करने का सबको उपदेश देते हैं।

ज्योतिर्मयीव दीपस्य क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी।
यस्यानन्यस्वभावस्य तस्य मौनमनुत्तरम् ॥८॥

मौन की सर्वोत्कृष्ट रक्षा बताने के लिए यहा दीपक की ज्योति का उदाहरण दिया गया है। दीपक की ज्योति ऊची जाय या नीची जाय परन्तु वह प्रकाशमय ही होती है। उसी प्रकार जिस महात्मा के मन-वचन-काया के योगो ने पुद्गल-भावो से विराम पाया होता है, उस महात्मा की मन-वचन एव काया की प्रत्येक क्रिया ज्ञानमय होती है। उनका समग्र आतरिक एव बाह्य व्यवहार ज्ञानमय होता है। उनकी आहार की क्रिया, विहार की क्रिया, शास्त्रस्वाध्याय की क्रिया, परोपदेश की क्रिया, यह सब ज्ञानमय होती है। ज्ञानदृष्टि आश्रव की क्रिया को भी निर्जरा की क्रिया बना देती है। ज्ञानदृष्टि प्रत्येक क्रिया मे चेतना का सचार करती है। कूरगडु मुनि आहार की क्रिया कर रहे थे, पर उस क्रिया पर ज्ञानदृष्टि का प्रभाव था। क्रिया चैतन्यमय हो गई। आहार करते २ आत्मा केवलज्ञानमय हो गई। गुणसागर लग्नमडप में लग्न-क्रिया कर रहे थे परन्तु इस क्रिया पर ज्ञानदृष्टि की गहरी छाया थी, क्रिया चैतन्यमय बन गई। परिणाम यह आया कि क्रिया करते २ वीतराग निर्मोही बन गये। आषाढाभूति रगमच पर अभि-

नय की क्रिया रहे थे, क्रिया पर ज्ञान-दृष्टि का तीव्र प्रकाश पड़ा। प्रकाश के दिव्य प्रभाव से क्रिया में चमत्कार पैदा हो गया। केवलज्ञानी भरत का अभिनय करते २ आषाढ़भूति की आत्मा केवलज्ञानी बन गई।

ज्ञानदृष्टि के चमत्कारों की दुनिया में जरा परिभ्रमण करके चमत्कारो के वैज्ञानिक महत्त्व को समझने का प्रयत्न करने की जरूरत है। ज्ञानदृष्टि के परमार्थ को समझ कर यह ज्ञानदृष्टि प्राप्त करने की आवश्यकता है।

ज्ञान होना एक अलग बात है, ज्ञानदृष्टि होना दूसरी बात है। ज्ञान हो पर ज्ञानदृष्टि न हो ऐसा बन सकता है। ज्ञानदृष्टि वाले को ज्ञान अवश्य होता है। आज हम ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न तो करते है पर ज्ञानदृष्टि के लिये हमारे प्रयत्न शून्य है। ज्ञानवाले का पतन हो सकता है किन्तु ज्ञान-दृष्टि वाले का पतन कभी नहीं हो सकता। हाँ, ज्ञानदृष्टि खुली होनी चाहिये।

"मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ, पर-पुद्गलों से भिन्न हूँ।" ऐसा मात्र ज्ञान होता है तो पर-पुद्गलों का आकर्षण, पर-पुद्गलों का ग्रहण एवं उपयोग वगैरह पुद्गलभावो की चेष्टाएं जीवन में चालू रहती है। पुद्गल-निमित्तक राग-द्वेष और मोह के कीड़े निरन्तर चित्त को चूसते रहते हैं। परन्तु ज्ञानदृष्टि आने के बाद पुद्गलो के कैसे भी रूप-रस-गंध एव स्पर्श आत्मा में राग-द्वेष पैदा नहीं कर सकते हैं। राग के स्थान पर वैराग्य, द्वेष के बदले करुणा और मोह के स्थान पर यथार्थदर्शिता आ जाती है।

जब ज्ञानदृष्टि खुली नही थी तब जो पुद्गल जीव मे राग-द्वेष और मोह पैदा करते थे, ज्ञानदृष्टि खुल जाने पर वही पुद्गलो के सामने आते हुए भी उसमे राग-द्वेष और मोह जाग्रत नही होते। ज्ञानदृष्टि खुलने की यही निशानी है। विषयो के आकर्षण व उपभोग और कषायो का उन्माद, ज्ञानदृष्टि वाली आत्मा मे नही रहता। उसकी प्रत्येक क्रिया राग-द्वेष और मोह के प्रभावो से मुक्त हो जाती है। क्रिया तो वही की वही होती है पर मोहदृष्टि के प्रभाव से वह क्रिया भवपतन का निमित्त बन जाती है। ज्ञानदृष्टि का प्रभाव उस क्रिया को भव-विसर्जन का हेतु बना देता है। ज्ञानदृष्टि वाली व पुद्गल-पराङ्मुख-स्वभाव वाली आत्मा का मौन अनुत्तर होता है, अपूर्व होता है।

१४ : विद्या

नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याशुच्यनात्मसु ।
अविद्या तत्त्वधीर्विद्या योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥१॥

जो पुद्गल अनित्य हैं, अशुचिमय एव अपवित्र है और आत्मतत्त्व से भिन्न हैं, उन पुद्गलों को क्या तू नित्य, पवित्र और आत्मा से अभिन्न मान रहा है ? तो समझना चाहिये कि अविद्या का तेरे पर प्रवल प्रभाव है। जव तक पुद्गल-द्रव्यों को तू नित्य, पवित्र और आत्माभिन्न समझता है तव तक तू तत्त्वज्ञानी नही है, आत्मज्ञानी नही है, परन्तु अविद्या से आवृत्त, अज्ञान से अभिभूत एवं विवेकरहित पामर जीवात्मा है। पामर जीवात्मा की यह कैसी करुणाजनक स्थिति है !

१. पर-संयोग को वह नित्य समझता है ।
२. अपवित्र शरीर को वह पवित्र मानता है ।
३. जड़ पुद्गल-द्रव्यों को वह अपना मानता है ।

यह 'अहं बुद्धि' व 'मम बुद्धि' ही अविद्या है। मौन में वाधक यह अविद्या है। मुनि-जीवन की साधना में यह अविद्या विघ्न है। जव तक इस विघ्न पर विजय प्राप्त न की जाय तव तक मुनिपन सिद्ध नहीं हो सकता। अनन्त अनन्त-काल तक कर्मों के घोर उपसर्ग सहन करने पड़े है उसका कारण यही अविद्या है। अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र और भिन्न को अभिन्न मानने की वृत्ति अनादिकाल पुरानी है। इस वृत्ति

का विनाश करना सरल नहीं है, पर साथ ही साथ यह भी कहना चाहिये कि यह अशक्य भी नहीं है।

१ आत्मा को नित्य समझो।
२ आत्मा को पवित्र समझो।
३ आत्मा में ही 'अहं' बुद्धि रखो।

इस तत्त्वबुद्धि-विद्या के द्वारा अविद्या का विनाश हो सकेगा। पर-संयोग को नित्य मानकर, पर-संयोग में राग रखने वाले जीव को जब पर-संयोग का वियोग होता है तब वह कैसा करुण रुदन करता है? यदि यह बात समझ में न आती हो तो रामचन्द्र जी के विरह में कल्पांत करती सीता की तरफ दृष्टिपात करो, बात समझ में आजायेगी। गंदगी व रोगों से भरे इस शरीर को पवित्र मानकर उस शरीर पर खूब प्रेम रखने वाला मनुष्य, जब उसका शरीर कभी स्वयं ही अपना भेद प्रकाशित करता है, तब वह कैसा सम्भ्रान्त बन जाता है? इस बात पर विश्वास न होता हो तो सनत्कुमार चक्रवर्ती का ऐतिहासिक दृष्टान्त पढ़िये। जड़ चेतन का भेद नहीं समझने वाले मनुष्यों की व्याकुलता व बेचैनी के उदाहरण तो आप ही स्वयं हैं। जड़ पुद्गल के बिगड़ने, सुधरने पर आप स्वयं कितने रागी व द्वेषी बन जाते हैं? कितनी चिंता अनुभव करते हैं?

"जड़ से मैं भिन्न हूँ जड़ के बिगड़ने पर मेरा कुछ नहीं बिगड़ता व जड़ के सुधरने पर मेरा कुछ नहीं सुधरता।" यह विचार राग-द्वेष की भयंकर समस्या को सुलझा सकता है और तभी आत्मा समभाव में रह सकती है।

"पर-पुद्गल का संयोग अनित्य है अतः उस संयोग पर मैं सुख की मीनारे नही बाँधूगा, उस संयोग को मैं नित्य नहीं मानता। पर मेरी आत्मा ही नित्य है।" इस तत्त्ववृत्ति से ही संयोगवियोग से पैदा होती विकलता व विह्वलता को दूर किया जा सकता है और आत्मा अपार प्रशम-सुख का अनुभव कर सकती है।

"एक मात्र मेरी आत्मा पवित्र है। शुद्ध एक मात्र मेरी आत्मा है।" ऐसा यथार्थ दर्शन होने के वाद शरीर को पवित्र और निरोग वनाकर रखने का सख्त पुरुपार्थ और पुरुपार्थ में मिलती निष्फलता से होने वाला क्लेश, यह सव दूर हो जायेगा। शरीर को साध्य नहीं, साधन समझो! उसके साथ व्यवहार एक साधन के तरीके से रक्खो तव शरीर के लिये होने वाले अनेक पापो से आप वच जायेगे।

अविद्या के गाँढ़ आवरण को नष्ट करने का पुरुषार्थ दृढ प्रणिधानपूर्वक आरम्भ करना चाहिये। वीच में आने वाले विघ्नों पर विजय प्राप्तकर सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये।

यः पश्येद् नित्यमात्मानमनित्यं परसंगमम्।
छलं लब्धुं न शक्नोति तस्य मोहमलिम्लुचः ॥२॥

जो मुनि सदैव आत्मा को अविनाशी समझते हैं और पर पदार्थों के सम्वन्ध को विनाशी मानते है उन मुनि के आत्म-प्रदेश में प्रवेश करने के लिए मोहरूपी चोर को कोई छिद्र नही मिलता। यहां तीन वातों की तरफ अपना लक्ष्य आकृष्ट किया गया है।

१. आत्मा का अविनाशी स्वरूप में दर्शन।

२ पर-पुद्गलसयोग का विनाशी रूप मे दर्शन ।
३ मोह का आत्मभूमि मे अप्रवेश ।

मारक मोह की विकट विडम्बनाओ मे यदि मन उद्विग्न बन गया हो और उन विडबनाओ से मुक्त होने की कामना अदम्य रूप से उल्लसित हुई हो तो ये दो उपाय इस अदम्य कामना को सफल बनाने मे समर्थ हैं। हाँ, मोह को आत्म-भूमि पर पैर भी न रखने देने का सुदृढ सकल्प चाहिये ।

मोह के सहारे आनन्द-प्रमोद और भोगविलास अनुभव करने की व भोगने की वृत्तियो का असाधारण दमन करना पडेगा । तभी आत्मा की ओर दृष्टि जायेगी और आत्मा का अविनाशी स्वरूप देखने मे आनन्दानुभूति होगी । पर-पुद्गल के सयोग विनाशी व व्यर्थ लगेंगे ।

आत्मा का अविनाशी स्वरूप मे दर्शन करना है । वह सिर्फ एक दो घटे के लिए या एक दो महीने के लिए अथवा वर्ष के लिए नही, परन्तु जब-२ अपनी आत्मा की तरफ या दूसरे की आत्मा की तरफ दृष्टि जावे तब-२ "यह अविनाशी है" ऐसा सवेदन होना चाहिए। अविनाशी आत्मा का दर्शन जब मन मे सुखद सवेदन पैदा करता है तब विनाशी शरीर एव भौतिक सपत्ति के दर्शन मे नीरसता और आमपरण-हीनता आती है। अविनाशी आत्मा की प्रीति हो जाने के पश्चात् "पुद्गल के सयोग अनित्य हैं । जो अनित्य है उसके सगम से-सयोग से क्या फायदा ?" ऐसी दृष्टि खुलती है । पर-सयोग की अनित्यता का दर्शन मन पर ऐसा प्रभाव पैदा करता है कि पर-सयोग करने मे, पर सयोग मे सुख अनुभव करने मे

१ लक्ष्मी,
२ आयुष्य,
३ शरीर

इन तीन तत्त्वो के विषय मे जीवात्मा का जो अनादि-कालीन दृष्टिकोण रहा है, उसका अ त कर एक नया किन्तु यथाथ दृष्टिकोण अपनाने हेतु पूज्य उपाध्याय जी कह रहे हैं। अविद्या के आवरण को चीर डालने के लिये यह नया दृष्टि-कोण समथ एव अनिवार्य है। यह बात समझाने के लिए 'अदभ्र बुद्धि' का सहारा लेने के लिये भी सूचना दी है।

लक्ष्मी की लालसा ने, जीवन की (आयुष्य की) कामना ने एव शरीर की स्पृहा ने हमारी बुद्धि को कु ठित कर दिया है। हमारी विचारशक्ति को अति सीमित बना दिया है। और हमारी अन्तर-चेतना को धूल के टीले के नीचे गाड दिया है। लक्ष्मी, जीवन एव शरीर के त्रिकोण के व्यामोह पर समग्र ससार की नवलकथा सर्जित है। ससार की नवलकथा का कोई भी पृष्ठ खोलकर देखिये, यही त्रिकोण दिखाई देगा। राग एव द्वेष, हर्ष और विषाद, स्थिति और गति, पुण्य और पाप, आनन्द और उद्वेग, ऐसे सैकडो द्वन्द्वो के केन्द्र स्थान मे लक्ष्मी, जीवन एव शरीर का त्रिकोण ही रहता है। आशाओ की मीनारें और निराशाओ के कब्रिस्तान इसी त्रिकोण पर बनते है। यो कहिये कि पवित्र, उदात्त, आत्मानुलक्षी और भव्य भावनाओ की श्मशानभूमि यही त्रिकोण है। इस "अविद्या त्रिकोण" को अपने वास्तविक स्वरूप मे देखने के लिये यथार्थदर्शी दृष्टिकोण अपनाए बिना आत्मा का पूर्णता की ओर प्रयाण नही हो सकता। पूर्णानन्द की अनुभूति नही हो सकती। यह है यथाथ दृष्टिकोण —

१. लक्ष्मी समुद्र की तरंगों की तरह चपल है।
२. जीवन वायु के समान अस्थिर है।
३. शरीर बादलों के समान क्षणभंगुर है।

किसी समुद्र के शान्त तट पर बैठ कर पूर्णिमा की रात्रि मे, सागर की उछलती तरगो में लक्ष्मी की चपलता का दर्शन कर लक्ष्मी की लालसा को तिलांजलि दे देना। किसी पहाड के उच्च शिखर पर खड़े रहकर, दृष्टि को अनन्त आकाश की ओर स्थिर कर, वायु की सरसराहट में जीवन की अस्थिरता का करुण संगीत सुनना। जीवन की कामनाओं से तब निवृत्त होने का दृढ सकल्प करना। किसी वर्षाकाल में, किसी वन-निकुंज मे आसन लगाकर आकाश मे मंडराये हुए बादलों में काया की क्षणभगुरता की ध्वनि सुनना और काया की स्पृहा को त्याग देने का तब मनो-निश्चय कर लेना। अविद्या का अनादि-आवरण फट जायेगा और विद्या का अनुपम सौंदर्य पूर बहार मे प्रकट हो जायेगा। त्रिकोण की दुनियाँ से मुक्त होकर आप अपनी सहज, स्वाधीन, ज्ञानादि-लक्ष्मी, आत्मा का स्वतन्त्र अनंत जीवन और अक्षय आत्मद्रव्य की अगम अगोचर सृष्टि में पहुँच जायेंगे।

लक्ष्मी, जीवन एवं आयुष्य विषयक यह नवीन विचार पद्धति कैसी आह्लादक एव अंत स्पर्शी है! कैसा मीठा आत्म-संवनन और रोम-रोम को विकसित-उल्लसित करने वाला स्पदन जाग्रत हो जाता है! पुरानी-अनादि विचारधारा की विक्षुब्धता-विवशता और विवेकविकलता का यहां स्पर्श मात्र भी नही है।

शुचीन्यप्यशुचीकर्तुं समर्थेऽशुचिसंभवे ।
देहे जलादिना शौचभ्रमो मूढस्य दारुणः ॥४॥

शरीर की शुद्धि की तरफ खूब झुकाव रखने वाले मनुष्यो को जरा स्वस्थता पूर्वक सोचना चाहिए कि (१) शरीर किस रीति से उत्पन्न होता है ? (२) किस मे उत्पन्न होता है, व (३) इस शरीर का क्या स्वभाव है ?

सुक्क पिउणो माऊए सोणिय तदुभय पि ससट्ठ ।
तप्पढमाए जीवो आहारइ तत्थ उप्पन्नो ॥
—भवभावना

पिता का शुक्र और माता का रुधिर, इन दोनो के ससर्ग से शरीर की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा वहा आकर प्रथम समय से ही इन शुक्र व रुधिर के पुद्गलो का आहार कर शरीर का निर्माण करता है। यह तो उसकी उत्पत्ति की बात है।

इस शरीर का स्वभाव कैसा है ? पवित्र को अपवित्र करने का। शुद्ध को अशुद्ध करने का। सुवासित को दुर्गंधयुक्त करने का। सुन्दर को कुरूप बनाने का। कपूर, कस्तूरी एव चदन का विलेपन करिए, यह शरीर अल्पकाल में ही उस विलेपन को अपवित्र, अशुद्ध एव दुर्गन्धमय बना देगा। सुन्दर शुद्ध वस्त्रो से शरीर को ढको, अल्प समय मे ही शरीर उन वस्त्रो को गदे और अशुद्ध बना देगा। ठण्डे व गरम पानी के फव्वारा के नीचे बैठ कर सुगन्ध-भरपूर साबून से स्नान करिए, कीमती इत्र लगा कर शरीर को सुगन्ध से भरपूर कर दीजिये, परन्तु दो चार घन्टे बीते न बीते शरीर अपने मूल स्वभाव मे

पहुँच जायेगा। पसीने से व गन्दगी मे, रोग से व व्याधि से वदसूरत एवं वेढंगा वन जायगा। शरीर को इस रीति से वार २ पानी व मिट्टी मे पवित्र वना देने का भ्रम कितना भयंकर है? शरीर की पवित्रता को अपनी पवित्रता मान लेने की वृत्ति कैसी हानिकारक है, यह सोचना चाहिये।

शरीर को साध्य मानकर, उसके साथ जो वर्ताव किया जाता है, उसमें परिवर्तन आना चाहिये। परन्तु प्रवृत्ति के परिवर्तन मे वृत्ति का भी परिवर्तन होना चाहिये। "शरीर साधन है साध्य नही।" शरीर के साथ एक सावन के रूप में व्यवहार होना चाहिये। इसके प्रति वृत्ति भी एक साधन रूप में ही होनी चाहिये।

मनुष्यशरीर मोक्षमार्ग की आराधना के लिए सर्वोत्तम सावन है। इस शरीर की एक २ धातु का उपयोग, इस शरीर की एक-एक इन्द्रिय का उपयोग, शरीर के एक-२ स्पदन का उपयोग मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिए करने का है। शरीर के साधन द्वारा आत्मा को पवित्र, शुद्ध एवं उज्वल करना है। दु खद वात तो यह है कि भ्रान्त मनुष्य आत्मा को साधन वनाकर उसके द्वारा शरीर को शुद्ध एवं पवित्र वनाने की चेष्टा करता है! शरीर को पवित्र वनाने के ऐसे-२ उपायों का आविष्कार करता है कि उससे आत्मा कर्ममलिन वन जाती है। साध्य का निर्णय करने में भूल कर साध्य को साधन मानता है और साधन को साध्य समझ लेता है।

यह नही भूलना चाहिये कि साध्य आत्मा है। आत्मा को जरा भी हानि या क्षति नही पहुँचे, इस रीति से ही सावन के साथ व्यवहार करना चाहिये। "अविद्या" यह विवेकपूर्ण व्यवहार नही करने देती। अविद्या के प्रभाव से

जीवात्मा शरीर के प्रति ही ममत्व रखने वाला बनता है। उसका लक्ष्य शरीर ही होता है। शरीर को हमेशा जल से नहलायेगा, शरीर पर कोई दाग न रह जाय, इसकी चिन्ता रक्खेगा, शरीर गंदा न हो जाय इसकी सावधानी रक्खेगा। आत्मा को तो यह बिल्कुल ही भूल जाता है।

कोयले को पानी से क्या दूध से भी धोइए, पर क्या कोयला सफेद बनेगा? उसी प्रकार, काया जो कि अपवित्र तत्त्वों से ही बनी हुई है और दूसरों को अपवित्र करने के स्वभाव वाली है, उसे आप चाहे जितना पवित्र करने की चेष्टा करें, आपका प्रयत्न निष्फल ही जायेगा।

य: स्नात्वा समताकुण्डे हित्वा कश्मलजं मलम्।
पुनर्न याति मालिन्यं सोऽन्तरात्मा पर: शुचि: ॥५॥

क्या तुम्हें स्नान करना ही है? पवित्र बनना ही है? तो आइये, स्नान करने का मुख्य स्थान बताऊँ। स्नान करने का शुद्ध जल बताऊँ! आप एक बार स्नान करिए, पुन: स्नान करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी! आपको ऐसी पवित्रता प्राप्त होगी कि जो स्थायी रूप में रहने वाली होगी।

"यह समता का कुण्ड है। जिसमें शमरस का जल छलाछल भरा हुआ है। इसमें आप सर्वांगीण स्नान करिए। स्वच्छन्द बार-बार स्नान करिए। आपकी आत्मा पर लगा हुआ पाप-मल धुल जायगा। आपकी आत्मा पवित्र बन जायेगी। आपको सर्वोत्तम की महान् पवित्रता प्राप्त होगी।"

एक बार जिस आत्मा ने यह सम्यग् दशा प्राप्त कर लिया फिर वह आत्मा कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बाँधती।

अतः वह अन्त.कोडाकोड सागरोपम प्रमाण स्थिति से ज्यादा स्थिति नहीं बांधती। यही इसकी सहज पवित्रता है।

समता का स्नान निरंतर करते रहना चाहिये। समता मे समकित की उज्वलता मिलती है कि जो उज्वलता–पवित्रता आत्मा की है। समता रस में निमज्जन करती आत्मा का तीन प्रकार का मल नाश होता है:

दृशोः स्मरविषं शुष्येत् क्रोधताप' क्षय व्रजेत्।
औद्धत्यमलनाशः स्यात् समतामृत मज्जनात्॥
—अध्यात्मसार

१. दृष्टि में से विषयवासना का जहर दूर हो जाता है। २. क्रोध की आग शान्त हो जाती है। और ३. औद्धत्य का स्वच्छन्दता का कचरा धुल जाता है। बस, समता के कुंड में स्नान कर लीजिए।

समता का कुण्ड कितना चमत्कारिक है! आपको यदि कोई रोग हो, समता के कुण्ड में स्नान कर लीजिये, रोग दूर हुआ ही समझिये। आपके जीवन में चाहे जितने आतरिक दोष हों, आप समता के कुण्ड में नहा ले, दोष भाग गये समझो! कहिये, भरत चक्रवर्ती ने जीवन में कौनसा दुष्कर तप किया था? कौनसा महान त्याग किया था? फिर भी उन्होंने आत्मा के अनंत दोष दूर किये। किस रीति से? समताकुण्ड में स्नान करके! पूज्य उपाध्याय जी ने स्वरचित 'अध्यात्मसार' में इसका रहस्य खोला है:—

आश्रित्य समतामेकां निर्वृत्ता भरतादयः।
न हि कष्टमनुष्ठानमभूत्तेषां तु किञ्चन॥

बाह्य शरीर को जल एवं मिट्टी से पवित्र करने की आकांक्षा दूर कर, आत्मा को समता-जल से पवित्र करने का मार्ग बताकर पूज्य उपाध्याय जी ने यह कैसा उपकार किया है! जब, ममता द्वारा समकित की प्राप्ति हुई कि समझना चाहिए "मैं पवित्र बना, मैं पवित्र हूँ।" यह खयाल रहेगा तो शरीरादि को पवित्र करने का विचार ही जाग्रत नहीं होगा। "मैं गंदा हूँ" ऐसा ख्याल जब होता है तब पवित्र बनने की प्रवृत्ति होती है।

समता को स्थिर रखने के लिए आपको जीवों में कर्मनिर्मित हुई विषय का दर्शन नहीं करना चाहिए। जैसे-२ आत्मस्वरूप का दर्शन दृढ होता जाता है वैसे २ समता स्थिर एवं दृढ बनती जाती है। समता की पवित्रता का सुख तो वही अनुभव कर सकता है कि जिसने समता को आत्मसात् कर लिया हो। शरीरादि पुद्गलों में आसक्त जीवात्मा समता के वचनातीत सुख का अनुभव नहीं कर सकता। शरीर को पवित्र बनाने की धुन जिस पर सवार हुई हो वैसा जीव समता के कुण्ड में मल-२ कर स्नान करके परम आह्लाद और अनुपम पवित्रता नहीं प्राप्त कर सकता।

आत्मबोधो नवः पाशो देहगेहधनादिषु ।
यः क्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु स्वस्य बंधाय जायते ॥६॥

शरीर पर धन आदि में आत्मबुद्धि, एक अभिनव अलौकिक पाश है। आत्मा पाश डालती है शरीर, धन, घर आदि पर। परन्तु इन पाश से स्वयं ही बंध जाता है! वास्तव में जिन पर पाश डाला जाय, बंधना तो वह चाहिए, परन्तु यहाँ तो पाश डालने वाला ही बंधता है! इसलिये यह पाश अभिनव व अलौकिक कहा गया है। 'मैं और मेरा' इस अविद्या

के द्वारा आत्मा बंधती जाती है, इस बात का भान कराते हुए यहाँ उपाध्याय जी ने ससार के तीन तत्वों की तरफ निर्देश किया है :—

(१) शरीर में 'मैं'
(२) धन में 'मेरा'
(३) घर मे 'मेरा'

यह 'मैं' और 'मेरा' का अनादिकालीन अहकार और ममकार (अविद्या) जीव को ससार में घुमा रहा है। कर्मो के बंधनों में फसा रहा है। नरक–निगोद के दु.ख त्रास दे रहा है। सुख-दु.ख के द्वन्द्वो में झुला रहा है।

शरीर में 'मै' की बुद्धि बहिरात्मभाव है। 'कायादिर्बहिरात्मा' शरीर में आत्मपन की बुद्धि बहिरात्मदशा है। इस दशा में विषयों की लोलुपता और कषायो का कदाग्रह स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करता है। तत्त्वों की अश्रद्धा एवं गुणों में प्रद्वेप इस अवस्था के लक्षण है। आत्मतत्त्व का अज्ञान बहिरात्मभाव का द्योतक है। श्री 'अध्यात्मसार' में कहा है कि :—

विषयकषायावेशः तत्वाश्रद्धा गुणेषु द्वेषः।
आत्माऽज्ञानं च यदा बाह्यात्मा स्यात् तदा व्यक्त.॥

इस प्रकार शरीर में अहता की बुद्धि रखने वाला विषय-कषाय के आवेश से अपनी ही आत्मा को कर्मो से बांधता है। तत्त्व की अश्रद्धा और गुणों में द्वेष धारण करने से आत्मा कर्मलिप्त होती है। जो कि उसके स्वयं के दुःख के लिये ही होती हैं।

स्वय कर्मो से बद्ध होते जाने पर भी उसे यह भान नही होता कि "मैं बध रहा हूँ" क्या यह बडे आश्चर्य की बात नही है ? जब तक यह भान न हो, तब तक कर्मो के बधन अकुलाने वाले नही लगते । जब तक कर्म के बधनो मे त्रास एव जुल्म का अनुभव न हो तब तक इन बधनो को तोडने का पुरुषार्थ नही होता है। पुरुषार्थ मे उत्साह, आवेग और जयप्राप्ति का लक्ष्य नही रहता । मोह, मदिरा के प्याले पीने वाली बहिरात्मा के सामने दर्पण धरा गया है कि "तुम अपने आप को देखो ।"

यदि इस दर्पण मे देखा जाय तो अपनी आत्मा कैसी लगे ? अनन्त-२ कर्मो से बधी हुई पराधीन परतन्त्र सवस्व हारी हुई !

घर धन आदि पर—पदार्थो मे ममत्व की बुद्धि इस पराधीनता एव परतन्त्रता मे वृद्धि करती है, ज्ञानादि-स्वसम्पत्ति को देखने नही देती, और बाह्यभावो मे नाच नचाती है । 'अह' और मम' के मार्ग पर चलने वालो की कैसी दुर्दशा होती है, इसका भान करने के लिए भूतकाल के पात्रो की ओर देखो । सुभूम चक्रवर्ती और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के हृदयप्रकपक दृष्टान्त पढिए । मगध सम्राट कोणिक व जर्मनी के हिटलर के करुण अन्त को देखा। सेन्ट हेलिना टापू मे अन्तिम दिन गुजारने वाले नेपोलियन की कहानी सुनो ।

अहकार और ममकार के इस पाश की क्रूरता और भयकरता को समझ कर इस पाश से मुक्त होने का सत्त्व पुरुषार्थ करना जरूरी है ।

मिथोयुक्तपदार्थानामसंक्रमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन विदुषैवानुभूयते ॥७॥

जड और चेतन तत्त्वों का यह अनादि-अनंत विश्व है। प्रत्येक जड़ चेतन तत्त्व का अस्तित्व स्वतन्त्र है और स्वरूप भी स्वतंत्र है। परन्तु जड़–चेतन तत्त्व एक दूसरे के साथ क्षीर-नीर के समान ओत-प्रोत होकर रहे है। उन तत्त्वों की भिन्नता एक मात्र ज्ञानप्रकाश से ही दीख सकती है।

इस विश्व में पांच द्रव्य (जड़-चेतन) विद्यमान है :—

१. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. पुद्गलास्तिकाय और ५. जीवास्तिकाय।

आकाशद्रव्य आधार है। शेष चार द्रव्य आधेय है अर्थात् आकाश में रहते है। आकाश का कोई भी भाग ऐसा नही है कि जिसमें चार द्रव्य न रहते हों। अर्थात् पाचों द्रव्य साथ रहते है फिर भी उनका अस्तित्व, उनका स्वरूप और उनका कार्य स्वतन्त्र रहता है। एक द्रव्य का अस्तित्व दूसरे द्रव्य में विलीन नही हो जाता। एक द्रव्य का स्वरूप दूसरे द्रव्य के स्वरूप में परिवर्तित नही होता। एक द्रव्य का काय दूसरा द्रव्य नही करता। भिन्नता का यह चमत्कार ज्ञान के विना दिखे ऐसा नही है।

प्रत्येक द्रव्य अपना अलग २ अस्तित्व रखता है, अपना स्वरूप निराबाध रखता है और अपना कार्य करता जाता है। "धर्मास्तिकाय" अरूपी है। अनादिअनन्त काल उसका अस्तित्व है। उसका कार्य है जीव को गति करने में सहायता देना। अर्थात् प्रत्येक जीव चल फिर सकता है उसके मूल में

सहायता "धर्मास्तिकाय" नाम के अदृश्य, अरूपी व विश्व-व्यापी ऐसे जड द्रव्य की है। "अधर्मास्तिकाय" स्थिरता मे सहायता करता है। जीव एक स्थान पर स्थिर बैठ सकता है, खडा रह सकता है, शयन कर सकता है उसके पीछे अरूपी, विश्वव्यापी एव जड "अधर्मास्तिकाय" की सहायता है। "आकाशास्तिकाय" का काम है अवकाश माने जगह देने का। "पुद्गलास्तिकाय" का काम तो सुप्रसिद्ध है। जो कुछ हमे आखो मे दिखता है वह सब पुद्गलमय है। पाचो द्रव्यो मे से मात्र पुद्गल ही रूपी है। हानि-वृद्धि एव निरन्तर परिवर्तन, यह पुद्गल का स्वरूप है। जीवास्तिकाय का स्वरूप है चेतना। ज्ञानादिस्व-पर्याय रमणता इसका कार्य है।

पुद्गलद्रव्य मे आत्मगुणो का प्रवेश नही हो सकता। आत्मा मे पुद्गलगुणो का प्रवेश नही हो सकता। अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि-गुण पुद्गल के गुण नही बनते, पुद्गलो का पूरण-गलन स्वभाव आत्मा का स्वभाव नही बनता। इसी प्रकार द्रव्य के पर्याय भी स्व-स्व-धर्म के परिणामरूप से भिन्न है। अलबत्ता, ये एक दूसरे के साथ ऐसे ओत-प्रोत होते हैं कि उनमे भेद करना कठिन होता है। परन्तु ज्ञानी-पुरुष श्रुतज्ञान के आधार पर उनका भेद समझते हैं।

सन्मति तर्क' मे श्री सिद्धसेनदिवाकर ने कहा है—

अन्नोन्नाणुगयाण इम त च त्ति विभयणमसक्क।
जह दुधपाणियाण जावत विसेसपज्जाया ॥४७॥

दूध और पानी की तरह परस्पर ओतप्रोत हुए जीव एव पुद्गल के विशेष पर्यायो में "यह जीव है और यह पुद्गल है।" ऐसा विभाग करना कठिन है। उन दोनो को अविभक्त पर्याय

समझना चाहिये। इस प्रकार श्रुतज्ञान के आधार पर जीव और पुद्गल का भेद-ज्ञान यह "विद्या' है।

अविद्यातिमिरध्वंसे दृशा विद्याञ्जनस्पृशा।
पश्यन्ति परमात्मानं आत्मन्येव हि योगिनः ॥८॥

अविद्या का अनादि-अन्धकार दूर होते ही योगी की दृष्टि मे तत्त्व-ज्ञान का अंजन दृष्टिपथ में आता है। इस अंजनअंचित दृष्टि से वह अपनी अन्तरात्मा मे देखता है। वहा उस महायोगी को किसका दर्शन होता है?

सच्चिदानन्दमय परमात्मा का! वह महायोगी सच्चिदानन्द की पूर्ण मस्ती में डोल उठता है। जन्म-जन्मान्तर के महान् संघर्षों के परिणामस्वरूप प्राप्त अपूर्व, अद्भुत व कल्पनातीत सफलता से उसका हृदय पूर्णानन्दी वन जाता है।

१. अविद्या का नाश
२. तत्त्व दृष्टिका अंजन
३. अन्तरात्मा में परमात्मदर्शन

परमात्मदर्शन की पार्श्वभूमिका में दो वातें है, जिन दो वातों की इस अष्टक में विवेचना की गई है। अविद्या का नाश करो और तत्त्वबुद्धि का अंजन करो।

गुणस्थानकों के माध्यम से इस क्रमिक विकास का चिंतन करो। अविद्या का अंधकार प्रथम गुणस्थान मे होता है। इस अंधकार से आवृत्त जीवात्मा "बाह्यात्मा" कहलाती है। चौथे गुणस्थान पर इस अंधकार का विलय होता है और तत्त्व बुद्धि (विद्या) का सूर्योदय होता है। वारवे गुणस्थान तक

तत्त्वबुद्धि विकसित होती जाती है। इस तत्त्वबुद्धि वाले जीवात्मा को 'अन्तरात्मा' कहा जाता है। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में यही अन्तरात्मा परमात्मा बन जाती है।

हम किस प्रकार जान सकते हैं कि हमारी आत्मा बाह्यात्मा है, अन्तरात्मा है या परमात्मा है ? हाँ, हम भी जान सकते हैं। यह है जानकारी की विधि व पद्धति।

❀ यदि अपने में विषय और कषायों की प्रचुरता है, तत्त्वों की तरफ अश्रद्धा है, गुणों के प्रति द्वेष है, आत्मा का ज्ञान नहीं है तो समझना चाहिये कि हम 'बाह्यात्मा' हैं। अर्थात् पहले गुणस्थान में हैं।

❀ यदि हमारे में तत्त्वश्रद्धा प्रगट हो गई है, अणुव्रत, या महाव्रतों से जीवन संयमित है, मोह को न्यूनाधिक अंशों में भी वश किया है व वश में करने का पुरुषार्थ चालू है तो समझना चाहिये कि हम अन्तरात्मा हैं और चौथे गुणस्थानक से बारहवें गुणस्थान तक के किसी भी गुणस्थानक में हैं।

❀ केवलज्ञान प्रगट हो गया हो, योगनिरोध कर लिया हो, सब कर्मों का क्षय हो गया हो, सिद्धशिला पर निवास हो गया हो तो समझो कि परमात्मा बन गये। तेरहवें या चौदहवें गुणस्थानक पर पहुंच गये।

मन शान्त हुए बगैर, अर्थात् शोक-मद-मदन-मत्सर कलह कदाग्रह-विषाद और वैरवृत्ति आदि दोष शान्त हुए बगर अविद्या भस्मीभूत नहीं होती। मोह का अंधकार दूर नहीं होता। मन शान्त करना चाहिये और अंतरात्मा बनकर

परमात्मा का ध्यान करना चाहिये, तब परमात्म-दर्शन होगा।

"परमात्मा ऽनुध्येय. सन्निहितो ध्यानतो भवति'

—अध्यात्मसार

एक शुभ आलवन में मन को स्थिर कर, दूसरे सब विचार छोड़कर ध्यान किया जाय तो मन शान्त होता है। शोकादि विकार शान्त हो जाते हैं और आत्मा की सहज ज्योति प्रकाशित हो उठती है।

'शान्ते मनसि ज्योतिः प्रकाशते शान्तमात्मनः सहजम्।'

—अध्यात्मसार

विवेक

कर्म जीव च संश्लिष्ट सर्वदा क्षीरनीरवत् ।
विभिन्नीकुरुते योऽसौ मुनिहंसो विवेकवान् ॥१॥

जीव अजीव का जो भेदज्ञान है वह विवेक है। कर्म और जीव एक दूसरे के साथ दूध एवं पानी की तरह सम्मिश्रित है। अनादिकाल से सम्मिलित हैं। उनके लक्षणों के द्वारा भिन्न समझ लेना यही विवेक है। चूंकि अनादिकाल से हम कर्म और जीव को अभिन्न मानते आये हैं। इसी कारण से हम अनंतकाल से संसार में भटक रहे हैं। संसार में भटकना तब मिटता है कि जब जीव व अजीव के विवेक से आत्मा को सब-परभावों से भिन्न समझा जाता है।

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाणमइयो सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणु मित्त पि ॥३८॥
—समयसार

अविद्या से मुक्त आत्मा ही पुद्गल से भिन्न आत्मा का दर्शन करती है। "मैं निश्चय एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य कोई परमाणु भी मेरा नहीं है।"

जैसे किसी मनुष्य की मुट्ठी में सोने का टुकड़ा हो पर वह भूल गया हो कि उसके हाथ में सोने का टुकड़ा है। परन्तु जैसे ही याद आया, वह अपने हाथ में सोने का टुकड़ा देखता है। उसी प्रकार जो मनुष्य अनादि मोहरूप अज्ञान की उन्मत्तता से अपनी परमेश्वर-आत्मा को भूल गया था, उसे भव-विरक्त

सदगुरू का समागम होने से व गुरु के निरतर उपदेश से भान हुआ कि "मै चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ। मेरे अपने अनुभव से ही मुझे यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। चिन्मात्र आकार होने से मैं समस्त क्रमरूप व अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यवहारिक भावों से भिन्न नही होता, इसलिये मै एक हूँ। नर, नारक आदि जीवो के विशेष पर्याय, अजीव, पुण्य–पाप, आश्रव–संवर निर्जरा-बध और मोक्ष, इन व्यवहारिक ९ तत्वों से मै ज्ञायक-स्वभावरूप भाव के कारण अत्यन्त भिन्न हूँ, इसलिये मै शुद्ध हूँ। मै चिन्मात्र हूँ। सामान्य–विशेषात्मकता का अतिक्रमण नही करता, अत: मै दर्शन–ज्ञानमय हूँ। स्पर्श रस, गध और वर्ण से मैं भिन्न होने से परमार्थत: मै सदा अरूपी हूँ।"

आत्मा के असाधारण लक्षणों को नही जाननेवाला अत्यन्त विमूढ मनुष्य तात्त्विक आत्मा को नही जानता और "पर" को ही आत्मा मान लेता है। कर्म को आत्मा मान लेता है। कर्मसयोग को आत्मा समझ लेता है, कर्मजन्य अध्यवसायों को आत्मा मान लेता है, कोई तो कर्मविपाक को ही आत्मा कह देता है! परन्तु ये सारे भाव तो पुद्गल द्रव्य के परिणाम से निष्पन्न है, उन्हें जीव या आत्मा किस प्रकार कहा जाय? आठो प्रकार के कर्म पुद्गलमय है, ऐसा श्री जिनेश्वर भगवंत ने फरमाया है:

"अट्ठविहं पि य कम्म सव्वं पुग्गलमय जिरा विति"
—समयसार

कर्मो से–कर्म के प्रभावों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान करने के लिए मुनि को हस–वृत्ति वाला बनना चाहिये। जिस प्रकार हस पानी व दूध के मिश्रण में से दूध ग्रहण कर पानी

को त्याग देता है उसी प्रकार मुनि को भी जीव-कर्म के मिश्रण मे से जीव को ग्रहण कर कम को त्याग देना चाहिये। उसके लिए जीव के असाधारण लक्षणो को वह जाने और श्रद्धा करे।

इस प्रकार भेदज्ञान का विवेक जब मुनि मे आता है तब वह महान् आत्मानन्द को अनुभव करता है। उनके रागादि दोषो का उपशम होता है और चित्त प्रसन्न बन जाता है।

देहात्माद्यविवेकोऽयं सर्वदा सुलभो भवे।
भवकोट्यापि तद्भेदविवेकस्त्वतिदुर्लभः ॥२॥

ससार मे रहने वाले जीव शरीर व आत्मा के अभेद की वासना मे वासित ही हैं। इस अभेद-वासना का अविवेक जीवा के लिए दुर्लभ नही है किन्तु सुलभ है। दुर्लभ तो है भेद-परिज्ञान। क्रोड-२ भवो मे भी भेदज्ञान-रुप विवेक दुर्लभ है।

ससार के बेचारे अनेक जीव शरीर से भिन्न कोई "आत्म-तत्त्व" है ऐसा जानते भी नही हैं। वे आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को ही नही जानते तो फिर आत्मा के शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप को जानने की बात ही कहा? "मन से भिन्न, वचन स भिन्न और काया से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा है।" इस प्रकार आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व जानकर श्रद्धा करनी सब जीवा के लिए सुलभ नही है। कोई महात्मा ही ऐसा भेद-ज्ञान प्राप्त करते हैं।

सुदपरिचिताणुभूता सव्वस्स वि कामभोगबन्धकहा।
एगत्तस्सुवलम्भो णवरि ण सुलभो विभत्तस्स ॥
—समयसार

काम-भोग की कथा किस के सुनने में नही आई ? किस के परिचय में नही आई ? किस के अनुभव में नही आई ? अर्थात् यह तो सुलभ है। परन्तु शरीरादि से भिन्न आत्मा की एकता सुनने में नही आई, परिचय में नही आई, अनुभव में नही आई, इसलिये दुर्लभ है।"

काम-भोग की कथा को अनन्त वार सुना, हृदय में जचाया व जीवन में अनुभव किया। विश्वविजेता "मोह" सम्राट के प्रभाव से यही सुलभ था। दुर्लभ था तो मात्र भेद-ज्ञान ! विशुद्ध आत्मा के एकत्व का संगीत वहां कान मे ही नही पडता था।

भेद-ज्ञान करने के लिये अन्तरात्म-दशा प्राप्त करनी चाहिये। इसके लिए पाच इन्द्रिय के विषयों के प्रति विरक्ति और उन विषयों का त्याग करते जाना चाहिये। विपयो के प्रति जव तक राग का भाव रहता है तव तक मन वाह्य भावों में ही भ्रमरण करता रहता है। आत्मा की तरफ मन नही घूमता। विषयों के त्याग के साथ कषायों का उपशम करना उतना ही अनिवार्य है। कषायों में सतप्त मन जड़-चेतन के भेद को समझने का अनुभव करने में समर्थ नही वनता। विषयों का राग हटते ही कषायों की अग्नि भी मंद पड़ने लगती है। कषायों के मद पडने से तत्त्व की ओर दृष्टि जाती है, तत्त्व पर श्रद्धा पैदा होती है। जीव-अजीवादि ९ तत्त्वों पर श्रद्धा होने के वाद विशेष रूप से जीव-तत्त्व के स्वरूप के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है और जीव के क्षमादि गुणो पर द्वेष नही रहता। अर्थात् क्षमादि गुणो से जीवन उज्वल वनाने की तमन्ना जाग्रत होती है। उसके लिए अणुव्रत और महाव्रतों का ग्रहण एवं आसेवन करने की वृत्ति

और प्रवृत्ति होती है। जैसे-२ यह वृत्ति एव प्रवृत्ति दृढ बनती जाती है वैसे-२ सारी मोहवासनायें शान्त होने लगती हैं। उससे मोह-जन्य प्रमाद की वृत्तियाँ एव प्रवृत्तिया बन्द हो जाती है।

ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर "भेद-ज्ञान" करने की योग्यता प्राप्त होती है। भेद-ज्ञान की कथा उसे प्रिय लगती है। भेद-ज्ञान की प्रेरणा देने वाले सद्गुरुओ का सत्सग उसे अच्छा लगता है। जो भेदज्ञानी नही है उसके प्रति भी उसे अद्वेप रहता है। और इस प्रकार जब भी उसे भेदज्ञान का अनुभव करने का सुअवसर प्राप्त होता है तब उसे एक महान् दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति होने का अ तरग आनद प्राप्त होता है।

अत भेदज्ञान की वासना से वासित बनने की जरूरत है। जिससे मन के अनेक क्लेश एव विक्षेप दूर हो जायगे। जीवन की कई समस्यायें हल हो जायेगी व अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव होगा।

शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद् रेखाभिर्मिश्रता यथा।
विकारैर्मिश्रता भाति तथाऽऽत्मन्यविवेकतः ॥३॥

आकाश स्वच्छ शुद्ध है, परन्तु आकाश को देखने वाले मनुष्य की आख मे यदि तिमिर रोग है तो रोगयुक्त दृष्टि से उसे आकाश मे लाल-पीली भाति २ की रेखायें दृष्टिगोचर होती है। वह बोल उठता है कि "देखो आकाश कैसा चित्र विचित्र दिखाई देता है।"

"निश्चय नय" से आत्मा निर्विकार, निर्मोह, वीतराग व चैतन्यस्वरूप है। पर इस आत्मा को देखने वाली चक्षुओ मे यदि क्रोधादि विकारो का रोग है तो क्रोधादि विकारो मे गन्दे

अविवेकी दृष्टि से आपको आत्मा में काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि रेखायें दिखती है। वह पुकार कर कहती है कि "देखो आत्मा कामी, क्रोधी व विकारी दिखती है।"

"निश्चय नय" इस प्रकार हमें अपने मूलभूत स्वरूप का दर्शन करा कर, अपने में अनादि काल से भरी हुई हीन भावना को उलट देने की प्रेरणा प्रदान करती है। हमने सच-मुच ही स्वयं को दीन हीन व पराश्रयी समझ लिया है। जैसे किसी विदेशी शासन के दमन-चक्र के नीचे पिस रही ग्रामीण प्रजा में दीनता, हीनता व पराधीनता की भावना देखने को मिलती है। वे लोग उसी स्थिति में ही जैसे संतोष मानकर जीवन पूर्ण करना चाहते हों! परन्तु कोई क्रान्ति-कारी उनके पास पहुँच जाता है और उन्हें ज्ञान कराता है कि "प्यारे प्रजाजनों! तुम यह न समझो कि यही तुम्हारा वास्त-विक जीवन है। तुम्हें भी एक नागरिक होने के सम्पूर्ण अधि-कार है, व तुम्हें भी एक स्वतंत्र जीवन जीने का अधिकार है। वही तुम्हारा वास्तविक जीवन है। यह तो तुम्हारे पर विदेशी सत्ता द्वारा मार पीट कर स्थापित किया हुआ पराधीन जीवन है। इस अत्याचारी सत्ता से मुक्त होकर तुम भी मोदमय जीवन जी सकते हैं।"

कर्मों की जुलमी सत्ता के नीचे पिस रहे जीव कर्मों के द्वारा बलात् स्थापित किये गये स्वरूप को ही अपना स्वरूप समझ बैठे है। दीनता, हीनता और पराधीनता की भावना रग २ में व्याप्त हो गई है......। वहां परम क्रान्तिकारी परमात्मा जिनेश्वरदेव पुकारते है :

"जीवात्माओं! यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नही। तुम्हारा अधिकार है सम्पूर्ण स्वतंत्र जीवन जीने का। तुम

शुद्ध हो, बुद्ध हो, निरजन हो, अखण्ड और अव्यय हो। अजर, अमर हो, तुम अपने मूलभूत स्वरूप को समझो। कर्मों की पराधीनता से पैदा होने वाली दीनता-हीनता को फेंक दो। तुम्हे जो रोग-शोक-जरा-मृत्यु आदि दिखता है वह तो कर्मों द्वारा किये गए आपकी दृष्टि मे विकार-अजन के फल-स्वरूप दिखता है। तुम वास्तव मे न तो मरते हो न जन्मते हो! न तुम्हे कोई रोग है, न कोई दुख! तुम अज्ञानी नही हो, तुम्हे मोह नही है और न तुम शरीरधारी हो।" ऐसा आत्म-ज्ञान प्राप्त करने से मुक्ति की निकटता प्राप्त होती है।

> आत्मज्ञानफल ध्यानमात्मज्ञान च मुक्तिदम्।
> आत्मज्ञानाय तन्नित्य यत्न कार्यो महात्मना ।।
>
> —अध्यात्मसार

निरतर आत्मज्ञान के लिये प्रयत्न करना चाहिए। एक आत्मा को जान लो। फिर कुछ जानना बाकी नही रहता। आत्मज्ञान के लिए ही नव तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त करना होता है। जिसने आत्मा को नही जाना उसने कुछ नही जाना। समस्त विकृतियो का आत्मा मे आरोप करके ही अज्ञानी जीव भीषण भवसमुद्र मे भटकता है। इसलिए भेदज्ञान [आत्म-ज्ञान] प्राप्त करना जरूरी है।

यथा योधै: कृत युद्ध स्वामिन्येवोपचर्यते।
शुद्धात्मन्यविवेकेन कर्मस्कन्धोर्जित तथा ।४।।

युद्ध सैनिक करते हैं, जय-पराजय सैनिक पाते हैं परन्तु प्रजा क्या कहती है? "राजा जीता, राजा पराजित हुआ।" सैनिको की विजय राजा मे आरोपित की जाती है, सैनिको

की पराजय राजा में आरोपित की जाती है। उसी प्रकार अविवेक कर्म पुद्गल पाप-पुण्य का उपचय व अपचय करता है फिर भी उसका 'उपचार' शुद्ध आत्मा में किया जाता है। अर्थात् "आत्मा ने यह पुण्य वाधा, आत्मा ने यह पाप वांधा।"

कर्मकृत भावों की कर्ता आत्मा नही है। आत्मा तो स्वभाव की कर्ता है। परन्तु आत्मा और कर्म की ऐसी एकता हो गई है कि कर्मकृत भावों का कर्त्तापन आत्मा में भासित होता है। यही अज्ञानदशा है और यही अज्ञानदशा हमारे भवभ्रमण का कारण है।

जन्मादिकोऽपि नियतः परिणामो हि कर्मणाम्।
न च कर्मकृतो भेद. स्यादात्मन्यविकारिणी ॥ १५ ॥
आरोप्य केवलं कर्म-कृतां विकृतिमात्मनि।
भ्रमन्ति भ्रष्टविज्ञाना: भीमे संसारसागरे ॥ १६ ॥
उपाधिभेदज भेद वेत्यज्ञ. स्फटिके यथा।
तथा कर्मकृत भेद-मा मन्येवाभिमन्यते ॥ १७ ॥

—अध्यात्मसार—आत्मनिश्चयाधिकार

जन्म, जरा, मृत्यु आदि कर्मो का परिणाम है। ये कर्मकृत-भाव अविकारी आत्मा के नहीं है। फिर भी अविकारी आत्मा में कर्मकृत विकृति का आरोप करने वाले ज्ञानभ्रष्ट जीव भीषण संसारसागर में भटकते है। इस प्रकार कर्मकृत विकृति का अविकारी आत्मा में आरोप करने वाले स्फटिक रत्न को लाल पीला समझने वालों के समान अज्ञानी है। अज्ञानी यह नही जानता कि स्फटिक में जो लाल-पीला दृष्टि-गोचर होता है वह तो उसके पीछे टगे हुए लाल पीले कपडो का रंग है! उसी प्रकार आत्मा में जो जन्मादि विकृतियाँ दिखती हैं वे सव कर्मकृत हैं। आत्मा की स्वयं की नहीं। पर अज्ञान

दशा यह बात नही समझने देती । वह तो मिथ्या आरोप करके ही रहती है ।

भले ही आत्मा एव कर्म एक ही आकाश क्षेत्र मे रहते है, परन्तु आत्मा मे कर्म के गुण सक्रमित नही हो सकते । आत्मा स्वय के भव्य स्वभाव मे सदैव शुद्ध है । जिस प्रकार धर्मास्तिकाय । अर्थात् धर्मास्तिकाय भी उसी क्षेत्र मे है जिस क्षेत्र मे कर्म है । फिर भी कर्मकृत विकृति धर्मास्तिकाय मे सक्रमित नही हो सकती । धर्मास्तिकाय निराबाध रूप से अपने शुद्ध स्वरूप मे रहता है । उसी प्रकार आत्मा भी शुद्धस्वरूप मे रहने वाली है ।

कर्मकृत विकृतियो को आत्मा मे आरोपित करके ही जीव राग एव द्वेष मे सड रहा है, दुख मे चिल्ला रहा है, सुख मे लीन हो रहा है और अपने आपको ज्ञानी एव विवेकी मानने का दभ कर रहा है । दूसरे जीवो के प्रति भी वह इसी प्रकार दृष्टि से देख रहा है । कर्म-जन्य विकृति को आत्मा की विकृति समझता है, मानता है व ऐसी समझ एव मान्यता के आधार पर आचरण करता है । उससे उसका व्यवहार भी मलिन बन गया है ।

कर्मजन्य विकृतियो का आत्मा में आरोप करके जीव ने आज दिन तक मिथ्यात्व दृढ किया । अब इस मिथ्यात्व को हटाने के लिए भेदज्ञान के मार्ग पर चलने की जरूरत है, धारणा प्राप्त करने की जरूरत है । तभी हृदय शुद्ध होगा, दृष्टि पवित्र बनेगी और मोक्ष-मार्ग पर प्रगति होगी । निरन्तर की दृष्टि को हृदय में जाग्रत रखने का उपदेश मिलना आवश्यक है । बार बार उपदेश का हृदय में जमाना जरूरी है ।

इष्टकाद्यपि हि स्वर्णं पीतोन्मत्तो यथेक्षते ।
आत्माऽभेदभ्रमस्तद्वद् देहादावविवेकिनः ।।५।।

जैसे धतूरे का पान दृष्टि में विपर्यास पैदा कर देता है। जो कुछ भी देखो सोना ही सोना नजर आता है ! ईट भी सोना व पत्थर भो सोना दिखता है। ठीक अविद्या व अविवेक का प्रभाव भी वैसा ही है। शरीर, इन्द्रिय, मन आदि में वह आत्मा का अभेद समझता है। यानी उन्हे ही आत्मा समझ लेता है।

वार २ जड़ तत्त्वों से आत्मा की भिन्नता का भान करने के लिए भिन्न २ दृष्टान्तो से समझाया जाता है। जड़ पुद्गल के गुणधर्मो से आत्मा का स्वरूप भिन्न है। आत्मा के गुण भिन्न है। यह विवेक करने की जरूरत है। जड़ पुद्गल मूर्त है, रूपी है, जब कि आत्मा अरूपी है। व्यवहार नय भले ही शरीर के साथ आत्मा का एकत्व स्वीकार करे परन्तु निश्चय नय शरीर के साथ आत्मा की एकता मान्य नही कर सकता।

तन्निश्चयो न सहते यदमूर्त्तो न मूर्त्तताम् ।
अंशेनाप्यवगाहेत पावकः शीततामिव ।।३५।।

उष्णस्याग्नेर्यथा योगाद् घृतमुष्णमिति भ्रमः ।
तथा मूर्त्ताङ्गसम्बन्धादात्मा मूर्त्त इति भ्रमः ।।३६।।

न रूपं न रसो गन्धो न न स्पर्शो न चाकृतिः ।
यस्य धर्मो न शब्दो वा तस्य का नाम मूर्तता ।।३७।।

क्या अमूर्त आत्मा किंचित् अंश में भी मूर्तता धारण करती है ? क्या अग्नि अंश मात्र भी शीतलता धारण करती

है। आत्मा मे मूतता का भ्रम है। जिस प्रकार उष्ण अग्नि के सम्बन्ध से "घृत उष्ण है" ऐसा भ्रम होता है उसी प्रकार मूत शरीर के सयोग से "आत्मा मूत है" ऐसा भ्रम होता है। जिसका धम न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है, न आकृति है, न शब्द है, वह आत्मा मूत किस प्रकार ? शब्द, रस, रूप, गन्ध स्पश और आकृति जड के धम हैं, आत्मा के नही, तब फिर शरीरादि-पुद्गलो मे आत्मा किस प्रकार मानी जा सकती है ?

आत्मा तो सत्-चिदानन्द है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म और पर से भी पर है। उसे मूतता स्पर्श भी नही कर सकती।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः पर मनः।
मनसोऽपि परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु स ॥

इन्द्रियो को पर कहा जाता है। इन्द्रियो से मन पर है। मन से बुद्धि पर है और बुद्धि से भी आत्मा पर है। ऐसी अमूर्त, आत्मा मे मूतता का आराप कर अज्ञानी पुरुष भ्रम मे भटकते रहते ह।

पुद्गल-द्रव्य का धर्म मूर्तता है। आत्मा का गुण ज्ञान है। अत पुद्गलो से आत्मद्रव्य भिन्न है।

धर्मास्तिकाय का धर्म गतिहेतुता है, व आत्मा का गुण ज्ञान है। अत पुद्गलो से आत्मद्रव्य भिन्न है।

अधर्मास्तिकाय का धम स्थिति हेतुता है। आत्मा का गुण ज्ञान है, अत अधर्मास्तिकाय से आत्मद्रव्य भिन्न है।

आकाशास्तिकाय का गुण अवकाश है। आत्मा का गुण ज्ञान है, अत आकाशास्तिकाय से आत्मद्रव्य भिन्न है।

इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास, और आयुष्य, ये द्रव्य-प्राण पुद्गल के ही पर्याय है। ये आत्मा से सर्वथा भिन्न है, अतः द्रव्य प्राणो में आत्मा की भ्रांति का त्याग करना चाहिये। आत्मा इन द्रव्य प्राणों से भिन्न सत्ता है।

'जीवो जीवति न प्राणैर्विना तैरेव जीवति।'

इस प्रकार शरीरादि पुद्गल द्रव्यों में आत्मा की भेद-बुद्धि कर विवेकी बनना चाहिए। यही परमार्थ है।

इच्छन्न परमान् भावान् विवेकाद्रेः पतत्यधः।
परमं भावमन्विच्छन् नाविवेके निमज्जति ॥६॥

शुद्ध चैतन्यभाव-सर्वविशुद्ध आत्मभाव का अन्वेषण जीव को विवेक के उच्चतम शिखर पर ले जाता है। शुद्ध चैतन्यभाव की उपेक्षा विवेक के हिमगिरी पर से जीव को गहरी खाई में पटक देता है व अविवेक रूपी पशुओं के दानवी जवड़ो से वह चबा दिया जाता है। विवेक-गिरिराज का शिखर है अप्रमत्त-भाव। गिरिराज के शिखर पर अप्रमत्त आत्मा को दुर्लभ सिद्धियाँ और लब्धियाँ प्राप्त होती है परतु विशुद्ध आत्मभाव में परिभ्रमण करने वाला जीव इन सिद्धियाँ और लब्धियाँ के प्रति उदासीन रहता है, अनासक्त होता है। वाचक-वर उमास्वातिजी ने कहा है कि:—

सातर्द्धिरसेष्वगुरु प्राप्यर्द्धिविभूतिमसुलभामन्यैः।
सक्त. प्रशमरतिसुखे न भजति तस्यां मुनिः सगम् ॥
या सर्वसुरवर्द्धि विस्मयनीयापि सानगारर्द्धेः।
नार्घति सहस्त्रभागं कोटिशतसहस्त्रगुणिताऽपि ॥

—प्रशमरति

'अन्यजीवो को दुर्लभ ऐसी ऋद्धि-लब्धि की विभूति को पाकर रस-ऋद्धि-शाता गारवरहित अणगार उस लब्धि के सुख मे आसक्त नही होता, परन्तु प्रशमरति के सुख मे मग्न हो जाता है।'

सर्व देवो की विस्मयकारी समृद्धि को लाख गुणा की जाय तो भी वह साधु की आध्यात्मिक संपत्ति के हजारवें भाग के बराबरी नही कर सकती।"

विवेक-(भेदज्ञान) के गिरिराज पर ऐसा अनुपम सुख है व ऐसी अनुत्तर आत्मसमृद्धि का खजाना है। परन्तु इस गिरिराज के शिखर पर पहुँचने के लिए निम्न बातो का लक्ष्य रखना पडता है —

१ धर्मध्यान मे मग्नता
२ भवोद्वेग
३ क्षमाप्रधानता
४ निरभिमानता
५ मायारहित निर्मलता
६ तृष्णाविजय
७ शत्रु-मित्र-समभाव
८ आत्माराम
९ तृण-मणि समानदृष्टि
१० स्वाध्याय-ध्यान-परायणता
११ दृढ अप्रमत्तता
१२ अध्यवसायविशुद्धि
१३ बुद्धिगत विशुद्धि
१४ श्रेष्ठ चारित्रशुद्धि
१५ लेश्याविशुद्धि

इन सब गुणो को प्राप्त करने का पुरुषार्थ हो तब 'अपूर्व करण' रूपी शिखर पर पहुँच सकते हैं। "मुझे विवेक-गिरिराज के शिखर पर पहूँचना हैं" ऐसा दृढ संकल्प उपरोक्त पन्द्रह वातों को आत्मसात् करने का बल देता है। शिखर पर पहुँचने के बाद भी भेदज्ञान-(अप्रमत्तभाव) को जाग्रत रखने का होता है, वहां भी यदि प्रमाद आ जाय, शुद्ध चैतन्यभाव से जरा भी दूर हो जाय तो पतन हुए विना न रहे।

भेदज्ञान की इस उच्चतम भूमिका पर कर्मो का विपुल प्रमाण मे क्षय होता है। आत्मा अपने स्वभाव में अपूर्व सच्चिदानंद अनुभव करता है। प्रशम का परम सुख प्राप्त करता है।

आत्मन्येवात्मनः कुर्यात् यः षट्कारकसंगतिम् ।
क्वाविवेकज्वरस्यास्य वैषम्यं जडमज्जनात् ॥७॥

शब्दशास्त्र की दृष्टि से ६ कारक होते हैं :—१. कर्ता २. कर्म ३. करण ४. सम्प्रदान ५. अपादान और ६. आधार ।

जगत में विद्यमान सभी प्रकार के सबंध इन ६ कारकों में प्रायः समा जाते है। इन ६ कारकों का आत्मा से संबध करने से एक आत्माद्वैत की दुनिया का सर्जन हो जाता है। कर्ता रूप में आत्मा दिखती है, व कर्म रूप मे भी आत्मा दिखती है। करण रूप भी आत्मा, सप्रदान में भी आत्मा, अपादान में भी आत्मा और आधार में भी आत्मा दिखती है। इस प्रकार आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नही दिखे तब आत्मानद की परिपूर्ण अवस्था प्राप्त होती है। पुद्गल सबध से ही अविवेक पैदा होता है, और यह अविवेक ही आत्मा में विषमता पैदा कर देता है। परन्तु, 'मूल नास्ति कुतः शाखा ?' पुद्गलो से

सम्बन्ध ही काट दिया जाय तो फिर अविवेक कहाँ से आयेगा ? विषमता कैसे उत्पन्न होगी ?

(१) आत्मा स्वतन्त्र रूप से ज्ञान-दर्शन में रमणता करती है, जानने व देखने की क्रिया करती है, अत आत्मा कर्ता है।

(२) ज्ञानसहित परिणाम का आत्मा आश्रय लेती है अत आत्मा कर्म है।

(३) उपयोग द्वारा आत्मा ज्ञप्ति-क्रिया (जानने की क्रिया) मे उपकारक होती है इसलिये आत्मा ही करण है।

(४) आत्मा स्वय ही शुभ परिणाम का दानपात्र है अत आत्मा सम्प्रदान है।

(५) ज्ञानादि पर्यायों मे पूर्व के पर्यायों का नाश होने से एव आत्मा से उनका वियोग होने से आत्मा ही अपादान है।

(६) समस्त गुण-पर्यायो की आश्रयभूत आत्मा का असंख्य प्रदेशरूप क्षेत्र होने से आत्मा ही आधार है।

आत्म चिंतन की यह ऐसी दृष्टि प्रस्तुत की गई है कि जिसमे आत्मा आत्मा के ही प्रदेश मे परिभ्रमण करती रहे। जड पुद्गलो से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय, और सारे ही सम्बन्ध आत्मा से जुड जाय। कर्तृत्व आत्म-परिणाम का दिखे। कर्म भी आत्मगुणों की निष्पत्ति का दिखे। सहायक आत्मा ही दिखे। सयोग एव वियोग भी आत्मा के पर्यायों मे ही जाने जाय। आधार भी आत्मा ही भासित हो। इसका नाम है विवेक।

जब तक यह विवेक नही होता है तब तक जड पुद्गलो की कर्ता आत्मा दिखती है। कार्य रूप जड पुद्गल दिखते है।

करण रूप से जड इन्द्रिय और मन आदि दिखता है। संप्रदान, अपादान और आधार रूप भी जड़ पुद्गल ही दिखते है। आत्मा एव पुद्गलो के सयोग की–अभेद की कल्पना से सब सम्बन्ध जोड दिये जाते है। इसी कारण विश्व विषमताओं से परिपूर्ण लगता है। विषमताओ से पूर्ण जगत को देखने वाला स्वयं भी विषमताओं से घिर जाता है! जड़ चेतन के अभेद का अविवेक अनत यातनाओं से भरे जगत में जीव को भटकाता रहता है।

तात्पर्य यह है कि जगत में जो भी कोई सम्बन्ध है, उन सभी सम्बन्धो का आत्मा में विनियोग कर देना चाहिए। आत्मा, आत्मगुण एवं आत्मपर्यायों की सृष्टि में उनके पारस्परिक सम्बन्धो को पहचानना व समझना चाहिए। तभी भेदज्ञान दृढ़ बनता है।

संयमास्त्रं विवेकेन शाणेनोत्तेजितं मुनेः।
धृतिधारोल्बणं कर्मशत्रुच्छेदक्षमं भवेत् ॥८॥

कर्मशत्रु को समूल नष्ट करने हेतु शस्त्र चाहिये न ? उसके लिए घिसीधार वाले शस्त्र काम नही दे सकते। उनकी धार तीक्ष्ण होनी चाहिए। शस्त्र की धार तीक्ष्ण करने के लिए खरात भी चाहिये। यहाँ शस्त्र और खरात दोनो बताए गए है।

सयम के शस्त्र की सतोष रूपी धारा को विवेक रूपी खरात पर तीक्ष्ण करो। तीक्ष्ण धार वाले शस्त्र को लेकर शत्रु पर टूट पडो व शत्रु का समूल नाश कर विजयश्री प्राप्त कर लो।

कर्मक्षय करने के लिये तीन बाते यहाँ बतलाई गई हैं:–

१. संयम २. सतोष और ३. विवेक।

संयम के शस्त्र को भेदज्ञान से तीक्ष्ण किया जावे तो कर्म शत्रु का नाश करने में वह शस्त्र समर्थ बनता है। संयमी महात्मा खंधक मुनि के सामने शरीर की चमड़ी उतरवा लेने का प्रसंग आया। मुनिश्री ने संयमशस्त्र की धार-धृति को विवेक-खराद पर चढ़ाकर सूक्ष्म-तीक्ष्ण बना दी। राज-सेवक मुनि के शरीर की चमड़ी उतारने लगे व मुनि संयम के शस्त्र से कर्म की खाल उखाड़ने लगे! अर्थात् शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञान की दृढ़परिणति से मरणान्त उपसर्ग में धृति को टिकाया और संयम को अभंग रखा। फलतः कर्मों का क्षय हो गया, आत्मा पुद्‌गलनियंत्रण से पूर्णतः मुक्त बन गई।

शरीर की चमड़ी उतरती हो, रक्त के फव्वारे छूटते हों, ऐसे समय जरा सी भी अधृति न हो, जरा भी असंयम का विचार न आये, ऐसा किस प्रकार बनता होगा? इसके मूल में क्या रहस्य छिपा हुआ होगा? यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उठता है। इसका रहस्य है भेदज्ञान! विवेक!

शरीर से आत्मा की भिन्नता इस प्रकार समझाई जानी चाहिए कि शरीर की वेदना, पीड़ा, रोग अपनी स्थिरता को न हिला सकें। अपने संयम को जरा सा भी अस्थिर न बना सकें। चाहे शरीर पर कोई खंजर का प्रहार करे, चाहे कोई पैट्रोल डाल कर जला दे, चाहे कोई राईफल की गोली से निशाना साध डाले। शरीर व आत्मा के भेदज्ञान की वासना जाग्रत हो गई है तो जरा भी अधृति व असंयम नहीं होगा।

भोजरिया मुनि के गले पर तलवार का प्रहार हुआ, स्कंधकसूरि के पांच सौ शिष्य कोल्हू में पीसे गये, गजसुकुमार मुनि के सिर पर खैर के अंगारे भर दिये गये और आग लगा दी गई, अवन्तीसुकुमाल मुनि के शरीर को सियारों ने और

डाला, पर उस समय उन महात्माओ ने धर्मध्यान तथा शुक्ल-ध्यान ध्याया ! महान धैर्य और अप्रमत्तता को स्थिर रख कर स्वर्ग व मोक्ष में पहुँच गये । इन सब घटनाओं के पीछे सफलता की कोई कुञ्जी थी तो वह था भेदज्ञान ।

जीवन में निरतर भेदज्ञान का अभ्यास, चिंतन एव छोटे २ प्रसगों में उसका अनुभव चालू हो तभी मरणांत कष्ट के प्रसगो में भेदज्ञान अपनी आत्मरक्षा करे । मात्र वाणी में ही भेदज्ञान को रखने का नही है । चिंतन एव ध्यान के द्वारा उसे पूर्णत· आत्मसात् करना चाहिए । जीवन के भिन्न २ प्रसंगों में शारीरिक–आर्थिक–कौटुम्बिक आपत्तियो के प्रसंगों में, उस भेदज्ञान द्वारा अपनी धृति और सयम को तीक्ष्ण कर कर्म-क्षय का पुरूषार्थ करने का है । भेदज्ञान का यह शाश्वत् विवेक प्रत्येक जीव को प्राप्त हो ।

१६ : मध्यस्थता

स्थीयतामनुपालम्भ मध्यस्थेनान्तरात्मना ।
कुतर्ककर्करक्षेपैस्त्यज्यता बालचापलम् ॥१॥

'सदा आत्मस्वभाव मे रहना, न राग करना न द्वेष करना।' इसका नाम है मध्यस्थता। ऐसी मध्यस्थता अतरात्मा को प्राप्त होती है। सचमुच सच्चा आनन्द ऐसी मध्यस्थदृष्टि मे ही प्राप्त होना है। जड व चेतन द्रव्यो के प्रति राग एव द्वेष कर विकृत आनन्द मे मन वहिर्भाव धारण करता है, भवाभिनदी वनता है। रागी-द्वेषी वाह्यात्मा अपने राग-द्वेष को प्रामाणिक बनाने के लिए कुतर्क का आश्रय लेता है कि जिसे वालसुलभ क्रीडा कहा जा सकता है। ऐसे जीवो को अनेक प्रकार के उपालभ सुनने पडते हैं।

मध्यस्थता की सिद्धि करने के लिये

१ राग व द्वेष का त्याग।
२ अन्तरात्मभाव।
३ कुतर्क का त्याग।

इन तीन वातो की आराधना करनी चाहिए। राग और द्वेष का त्याग करने के लिए पहले उसकी पूर्वभूमिका का विचार करना चाहिए।

प्राकृत मनुष्यो मे राग-द्वेष की जो प्रचुरता दिखती है उसके पीछे दो तत्त्व रहे हुए होते है सुखासक्ति और भोग-

वासना। इन्द्रियजन्य सुखो में आसक्ति और भोग की तीव्र वासना। जब मनुष्य को सुख मिलते है और उसकी वासना संतुष्ट होती है तव वह रागी वन जाता है। यदि उसे सुख नही मिलता और वासना की पूर्ति नही होती तव वह द्वेपी वन जाता है। उसका राग और द्वेप जड एवं चेतन दोनो के प्रति होता है। इस प्रकार रागी–द्वेपी प्राकृत मनुष्य सुखभोगो का पक्षपाती वनता है और पक्षपात से प्रेरित होकर अनेक कुतर्क करता भटकता है।

मध्यम पुरुष इन्द्रियजन्य सुखों के प्रति विरक्त होता है व भोगवासना से विमुख हुआ होता है। ऐसे सुख–भोग के प्रति उसका पक्षपात नही रहता। फलतः वह सुखभोग-जन्य राग-द्वेष से विमुख हो जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही हैं कि वह सम्पूर्ण राग-द्वेप से परे हो जाता है। भोगसुख से विरक्त होने के वाद भी असत् तत्त्वों के प्रति राग और सत् तत्त्वों के प्रति द्वेष उसे मध्यस्थ नही वनने देता। असत् तत्त्व को सत् तत्त्व सिद्ध करने और सत् तत्त्व को असत् साबित करने के लिए वह कुतर्को का आश्रय लेता है! कहाँ से आये फिर मध्यस्थता?

क्या जमाली में सुखविरक्ति एवं भोगविमुखता नही थी? फिर भी वह राग-द्वेष से परे नही हो सका। चूंकि उसे असत् तत्त्व का राग और सत् तत्त्व के प्रति द्वेष था। उसे कितने मनुष्यों के उपालम्भ सुनने पड़े? खुद परमात्मा महावीर का उपालम्भ उसे मिला। उसकी पत्नी आर्या प्रियदर्शना ने उसका त्याग किया। सैंकडों शिष्यों ने उसका त्याग कर दिया! फिर भी वह मध्यस्थ नही वना सो नही ही बना। असत् तत्त्व को सिद्ध करने के लिए उसने सैंकड़ों कुतर्क के कंकर उछाले......असत् तत्त्व का दृढ पक्षपाती ही बना रहा।

प्रियदर्शना को कुंभकार-श्रावक ने मध्यस्थ बना दिया। कुतर्क का त्याग कर प्रियदर्शना पिता परमात्मा के चरणों में पहुँच गई और राग-द्वेष-रहित परम मध्यस्थभाव को धारण करने वाली बनी।

जब तक कर्मजन्य भावों में रमणता है तब तक मध्यस्थता नहीं आ सकती। आत्मा के स्वाभाविक गुणों में रमणता यही मध्यस्थ दशा है। स्वभाव का त्याग यही सब से बड़ा उपालंभ समझना चाहिए। परमार्थ यह है कि राग-द्वेष से मुक्त बनने के लिए कुतर्क का त्याग करना चाहिए।

मनोवत्सो युक्तिगवीं मध्यस्थस्यानुधावति ।
तामाकर्षति पुच्छेन तुच्छाग्रहमनः कपि. ॥२॥

मध्यस्थ पुरुष का मन 'बछड़ा' है, और युक्ति 'गाय' है। गाय के पीछे बछड़ा दौड़ता है। मिथ्याग्रही मनुष्य का मन बंदर है। युक्ति गाय है। बन्दर गाय की पूंछ पकड़ कर गाय को खींचता है।

मध्यस्थ पुरुष युक्ति की तरफ आकर्षित होता है, दुराग्रही युक्ति को अपनी तरफ खींचता है। अर्थात् अपनी दृढ़ वासना की तरफ वह युक्ति का तोडमरोड कर लेता है। श्री 'हरिभद्री अष्टक' ग्रन्थ में कहा है

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

'आग्रही पुरुष का यह लक्षण होता है कि जहाँ उसकी बुद्धि रहती है वहाँ ही वह युक्ति को ले जाता है। पक्षपातरहित पुरुष जहाँ युक्ति होती है वहाँ युक्ति को ले जाता है।'

पक्ष का, संप्रदाय का, पंथ का व गच्छ का आग्रह एवं पक्षपात युक्ति को दिमाग में प्रवेश नहीं करने देता। दुराग्रही मनुष्य तो यहा तक विचार करता है कि 'यदि मैंने दूसरे पंथ की युक्तियुक्त बातें सुनी और वह मेरे मन में जच गई तो मेरा समकित चला जायगा।' इसलिए वह युक्तिपूर्ण बाते सुनना भी नही चाहता।

हाँ, युक्ति की यथार्थता की परीक्षा करनी आनी चाहिए। युक्ति दो प्रकार की होती है : (१) सुतर्क और (२) कुतर्क। कौनसा सुतर्क है व कोनसा कुतर्क है इसे समझने की सूक्ष्म बुद्धि चाहिए।

हर एक मत एवं पथ जो प्रत्येक काल मे निकलता रहता है वह कोई न कोई तर्क का सहारा लेकर निकलता है। अपने किसी विचार को पुष्ट करने वाली युक्ति और उदाहरण मिलने पर ही पंथ प्रकट होता है। उस युक्ति और उदाहरण की यथार्थता व अयथार्थता का निर्णय करने में असमर्थ प्राणी उस मत या पंथ में फंसते है। परन्तु ऐसे मनःकल्पित मत या पंथ जो कि कुतर्क के आधार पर खड़े किए गए होते हैं वे बरसात के काल में उत्पन्न कीड़े जितना आयुष्य भोग कर नष्ट हो जाते है। अथवा अज्ञानी व मूर्ख जीवों के क्षेत्र में वह पंथ विस्तार भी पा जाता है।

कुतर्क को सुतर्क समझ कर सरल प्राणी कुतर्क की तरफ आकर्षित हो जाता है और कभी कभी सुतर्क को कुतर्क समझ कर उससे दूर भी चला जाता है। सुतर्क को सुतर्क के स्वरूप में व कुतर्क को कुतर्क के स्वरूप में समझने की क्षमता रखने वाला जीव ही मध्यस्थ दृष्टि पा सकता है।

यथार्थ वस्तु-स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिए युक्ति का सहारा लेना चाहिए और युक्ति को यथार्थ रूप में समझने के लिए युक्ति की परिभाषा को भी समझना चाहिए। अन्यथा मिथ्या शकाओं से भ्रमित बन जाओगे। शिवभूति की यही दशा हुई थी। रथवीरपुर नगर में आचार्यश्री आर्यकृष्ण का शिष्य शिवभूति 'जिनकल्प' के शास्त्रीय विवेचन को अपनी बुद्धि कल्पना की तरफ खींच ले गया। गुरुदेव आर्यकृष्ण आचार्य-भगवत ने अनेक यथार्थ युक्तिया दी, परन्तु शिवभूति के मन रूपी बदर ने युक्ति रूपी गाय की पूछ को पकड कर अपनी तरफ खिचने का प्रयत्न किया। वस्त्र त्याग दिए व नग्न बनकर निकल पडा। फिर तो जितने तर्क व युक्ति मिली उन से वह अपने मतव्य को एकागी बन सिद्ध करने लगा। उसने न तो द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव का विचार किया, न उत्सर्ग अपवाद का विचार किया व न ही सापेक्षवाद का विचार किया।

'वस्त्रधारी मोक्ष नहीं जा सकता।' इस एकात आग्रह ने उसे यथार्थ वस्तुस्वरूप के बोध से वंचित रखा। तात्पर्य यह है कि युक्ति को परख कर उसका अनुसरण करो।

> नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने।
> समशील मनो यस्य स मध्यस्थो महामुनिः ॥३॥

हर एक नय अपने दृष्टिबिन्दु मे सत्य होता है। परन्तु जब वे एक दूसरे के दृष्टिबिन्दु का खडन करते हैं तब गलत होते हैं।

'स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेणावधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुम-भिप्रैति स नय।'

दूसरे का सत्य......तीसरे का झूठा......? ऐसा कह सकेगा ? वह मध्यस्थ रहेगा। कहेगा 'तुम अपनी २ कल्पना के अनुसार सच्चे हो, क्योंकि तुम्हारे हाथ में हाथी का वैसा २ ही अवयव है, पर तुम्हारे सव के वक्तव्य का समूह "हाथी" है।

स्वस्वकर्मकृतावेशाः स्वस्वकर्मभुजो नराः ।
न रागं नापि च द्वेषं मध्यस्थस्तेषु गच्छति ॥४॥

राग-द्वेष की मंदतारूपी मध्यस्थदृष्टि प्राप्त करने के लिए विश्व के जड़-चेतन द्रव्यों को व जड़-चेतन पर्यायों को उनके वास्तविक रूप में देखना चाहिए। प्रत्येक परिस्थिति को, प्रत्येक प्रसग को और एक-२ कार्य को उसके यथार्थस्वरूप में देखा जाय अर्थात् वास्तविक कार्य-कारण भाव को देखा जाय तो राग-द्वेष नहीं होता है।

केवलज्ञान के साथ "वीतरागता" का सम्वन्ध इस दृष्टि से यथार्थ है। केवलज्ञान में विश्व के प्रत्येक द्रव्य.. पर्याय ... संयोग....परिस्थिति... और प्रत्येक कार्य यथार्थ स्वरूप मे... वास्तविक कार्यकारण-भाव के रूप में देखा जाता है तव राग-द्वेप नही होता है। तात्पर्य यह है कि विश्व के पदार्थो का दर्शन जैसे २ यथार्थ होता जाय वैसे २ राग-द्वेष मद पड़ते जाते है। राग-द्वेष की तीव्रता में यथार्थदर्शन नही हो सकता। राग-द्वेप विश्व के अस्पष्ट एवं उल्टे दर्शन से पैदा होता है।

यहाँ पर ससारी जीवों के प्रति देखने का एक ऐसा यथार्थ दृष्टिकोण वताया गया है कि जिससे राग एव द्वेप को मद पड़ना ही पडे! जिस २ कार्य, सयोग, एवं परिस्थिति, आदि में जीवों के प्रति हमें राग, द्वेप होता है वह कार्य

सयोग, परिस्थिति, आदि सब जीव के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सर्जित है। कर्मों का उपार्जन करने वाला वही जीव है, और कर्मों का फल भोगनेवाला भी वही जीव है।

दूसरे जीव की ऐसी किसी प्रवृत्ति के साथ जब हम अपना सम्बन्ध जोड देते हैं तब राग व द्वेष होता है। प्रत्येक जीव के समग्र व्यक्तित्व के उतार-चढाव के पीछे पूर्वोपार्जित कर्म ही कारण होते है। उपादान कारण तो इनकी आत्मा है। निमित्तकारण इनके कर्म हैं। यह बात हृदय मे जच जाय तो फिर राग-द्वेष होने का कोई भी प्रयोजन नहीं रह जाता।

कोई एक नय-दृष्टि को पकड कर उस पर आग्रही बन जाने वाले जीव के प्रति भी यही दृष्टि रखनी चाहिए। "मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय का फल भोगता है।" कर्म बाधने वाले भी वही है, भोगने वाला भी वही है, अपने को किस लिए रोगी-द्वेषी बनना ?

पापी से पापी प्राणी हो, फिर भी उसकी तरफ यही दृष्टि रखनी चाहिए। "बेचारा पूर्वकृत कर्मों को भोग रहा है, यह ससार ही ऐसा है।" अध्यात्मसार मे पूज्य उपाध्यायजी ने कहा है कि

"निन्द्यो न कोऽपि लोके पापिष्ठेष्वपि भवस्थितिश्चिन्त्या।"

"विश्व मे किसी की भी निन्दा न करो पापी भी निन्दनीय नही है। भवस्थिति का विचार करो।"

भवस्थिति का चिन्तन करने का कितना सुदर उपदेश दिया है! "भवस्थिति" का चिंतन अर्थात् चतुर्गतिमय ससार

मे द्रव्य व पर्यायों को निरन्तर चलते रहने वाले परिवर्तन का चितन । साथ २ विशुद्ध आत्मद्रव्य का भी चिंतन करना चाहिए ।

"स्तुत्या स्मयो न कार्यः कोपोऽपि च निन्दया जनैः ।"

कोई हमारी स्तुति करता है तो वह उसके कर्म से प्रेरित होकर करता है अतः किस लिए उसके प्रति राग करना ? कोई यदि हमारी निन्दा करता है तो उसके कर्मो से प्रेरित होकर करता है, अतः हमें किस लिए द्वेष करना ? मध्यस्थता प्राप्त करने के लिए जीवो पर कर्मो का कैसा २ प्रभाव पड़ता है, किन–२ कार्यो के पीछे क्या–२ कर्म काम करते है, यह तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए । इस से मध्यस्थदृष्टि का विकास होता है । यह दृष्टिकोण दूसरे जड़ चेतन द्रव्यों के प्रति दृष्टि जाय तब अपनाने का है ।

मनः स्याद् व्यापृतं यावत् परदोषगुणग्रहे ।
कार्यं व्यग्रं वरं तावन् मध्यस्थेनात्मभावने ॥५॥

पर द्रव्यो के गुण-दोषों का विचार करने की ही क्या जरूरत है ? ऐसे गुण दोषों के विचार से ही मन रागी-द्वेषी बनता है । रागी-द्वेषी मन सम-भाव का आस्वादन नही कर सकता । अतः मन को पर द्रव्य को ओर ले जाना ही नही चाहिए । आत्मस्वरूप की रमणता में मन को पिरो देने से मन पर द्रव्य की तरफ जाता रूक जाता है ।

आत्मस्वरूप की रमणता का ऐसा व्यवहारिक मार्ग विचारना चाहिए कि जिसको साधक-आत्मा प्रयोग में ला सके और आत्मानुभव का आंशिक आस्वादन भी कर सके ।

आत्मभाव मे लीन होने के उपाय ये हैं सदागमो का अध्ययन-चिनन-परिशीलन, अनित्यादि भावनाओ का भावन, आत्मा के स्वाभाविक व वैभाविक स्वरूप का चिंतन, नय-निक्षेप-स्याद्वाद-शैली का अध्ययन एव मनन, आवरणरहित आत्मा के स्वरूप का ध्यान, आत्म-भाव मे लीन महात्माओ का समागम, सेवा एव सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति। स्वय के आवश्यक कार्यों के प्रति निष्ठा व सर्वत्र औचित्य का पालन।

इस प्रकार मन को समाधि मे लीन किया जा सकता है। दीर्घकाल के ऐसे अभ्यास से समाधि मे मग्नता सिद्ध हो सकती है। फिर भी कभी मन पर-पदार्थ की तरफ आकर्षित हो सकता है। चू कि कर्म का उदय भी बडा विचित्र होता है। उस तरफ पर-पदार्थों को देखने की विशिष्ट दृष्टि का सहारा लेना चाहिए। अर्थात् जीवो के प्रति मैत्री, करूणा, प्रमोद एव मध्यस्थदृष्टि रखनी चाहिए। जड पदार्थों के प्रति अनित्यादि भावनाओ का आश्रय लेना चाहिए। इस प्रकार यदि मध्यस्थता को अखड रखी जाय, तभी मन प्रशम का सुख अनुभव कर सकता है।

पराये गुण-दोष देखने मे व्याकुलता अनुभव किए विना इस आदत से मुक्त होना सरल नहीं है। दूसरो के गुण-दोष देखने की एक ऐसी आदत जीव मे पड गई है जिस से कि उसकी दृष्टि मध्यस्थ नही रह सकती। वह इस क्षण किसी का पक्षपाती है तो दूसरे क्षण मे किसी दूसरे का। किसी के प्रति रागी तो किसी के प्रति द्वेषी! और यह करने मे आनन्द मानता है, कर्त्तव्य समझता है, और फिर भी अपने को श्रावक-धर्म या मुनिधर्म का आराधक समझता है! यह है जीवो के गुण-दोष देखने की आदत।

जीवों के दोष देखने की और जड़ के गुण देखने की वहुधा जीवों में आदत होती है। जीवों के दोष देखकर उनके प्रति द्वेष व जड के गुण देखकर उसके प्रति राग करता है। जीव पर भी जड़ के माध्यम से राग-द्वेष करता है। फिर भी "मैं यह गभीर भूल कर रहा हू" ऐसा वह नही समझता। वह तो गुण-दोष देखने के कदाग्रह को पकड़ कर रखता है व उस कदाग्रह को कुयुक्तिओं द्वारा पुष्ट करता है।

इसी प्रकार असत्-तत्त्वों का आग्रह भी दूसरों के गुण-दोष देखने के लिए प्रेरित करता है। स्वयं की स्थूल बुद्धि से समझ में न आने वाले सम्यग् मोक्षमार्ग को भी वह गुण-दोष की दृष्टि से देखता है, और रागी-द्वेषी वनता है। इन सारी विषमताओं से मुक्त होने का सीधा व सरल उपाय है आत्मभाव में लीन हो जाना। दूसरों की पंचायत छोड़ स्वय की तरफ एकाग्र वन जाना। जब तक 'पर' का विचार चित्त में राग-द्वेष की होली सुलगाता रहे तव तक 'स्व' में खो जाना ही उत्तम मार्ग है।

"जव तक पर का विचार, रागी-द्वेषी व पक्षपाती वनाता है तब तक मै मेरी आत्मसाधना में, आत्मभावना मे लीन रहूँगा।" ऐसा दृढ संकल्प कर जीवन जिया जाय तो मध्यस्थ-दृष्टि खुल जाय और समभाव का संवेदन अनुभव होने लगे।

विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरितामिव।
मध्यस्थानां परं ब्रह्म प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥६॥

नदियाँ के मार्ग भिन्न भिन्न होते हैं, परन्तु भिन्न २ मार्गो से आकर भी वे समुद्र में मिल जाती है, एक वन जाती है।

यह एक ऐसा उदाहरण अपने सामने है कि यदि इसका रहस्य समझ मे आ जाय तो साधना-पथ पर चल रहे सभी जीवो के प्रति मैत्री एव प्रमोद आये बिना न रहे।

कोई नदी उत्तर मे बहती है तो कोई दक्षिण प्रदेश को फलद्रुप करती हुई वह रही है। कोई पूव प्रदेश को निरन्तर सिंचती चली जाती है, कोई पश्चिम विभाग को हराभरा करती हुई समुद्र की तरफ चली जाती है। भिन्न-२ दिशाओ मे व भिन्न २ प्रदेश पर बहते हुए भी सबकी गति समुद्र की तरफ ही होती है। किसी नदी का माग-पट विशाल होता है तो किसी का छोटा, कोई नदी गहराई मे विशेष होती है, तो किसी की गहराई कम। किसी का प्रवाह तीव्र होता है तो किसी का मद, पर सबका गमन समुद्र की तरफ होता है। समुद्र मे सारी नदियाँ अपना अलग २ अस्तित्व छोड कर समुद्ररूप बन जाती हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक साधना व आराधना चाहे उनकी पद्धति भिन्न २ हो, परन्तु वह अन्त मे तो मोक्ष मे ही जाकर मिलती हैं।

'मार्गपतित', 'मार्गाभिमुख' समकिती' 'अपुनर्बन्धक' 'देशविरति', या 'सर्वविरति' कोई भी जीव हो सब परमब्रह्म के प्रति गतिवाले होते है। अत किसी के प्रति राग-द्वेष करने की जरूरत नही है। जो मध्यस्थदृष्टिवाले जीव होते हैं उनका मध्यस्थता का प्रवाह उन्हे परम ब्रह्मरूपी महोदधि मे मिला देता है।

जो जीव तीव्र भाव स पाप नही करता, क्षुद्रता, लाभ-रति दीनता, मत्सर, भय, शठता, अज्ञान, निष्फल-आरम्भ आदि भवाभिनदी के गुणो से रहित है, शुक्लपक्ष के चन्द्र की

तरह वृद्धिगत गुणो वाला है, एक 'पुद्गल-परावर्तन' काल से ज्यादा जिसका ससारपरिभ्रमण नही है वह जीव अपुनर्बंधक कहलाता है। 'मार्गपतित' व 'मार्गाभिमुख' यह अपुनर्बंधक की ही अवस्थाये है। मार्ग याने चित्त का सरल प्रवर्तन । अर्थात् विशिष्ट गुणस्थान की प्राप्ति के योग्य स्वाभाविक क्षयोपशम। वैसे क्षयोपशम को प्राप्त करने वाला 'मार्गपतित' कहलाता है। मार्ग में प्रवेश करने योग्य प्राप्त भाववाली आत्मा "मार्गाभिमुख" कहलाती है । ये सब जीव प्राय. मध्यस्थदृष्टिवाले होते हैं। समकिती, देशविरति एवं सर्वविरति आत्माये भी मध्यस्थदृष्टिवाली होती है।

सर्वविरतिधर आत्माओं के स्थविरकल्पी और जिनकल्पी यह दो भेद होते है, वे भी मध्यस्थदृष्टि होते है। इन सब मध्यस्थदृष्टि आत्माओ का लक्ष्य-साध्य एक अक्षय परमब्रह्म स्वरूप है। सब अपना अलग-२ अस्तित्व परमब्रह्म में विलीन कर देती है।

कोई भी जीव हो, चाहे वह साधना की किसी भी भूमिका पर खडा हो, परन्तु वह यदि मध्यस्थदृष्टिवाला है तो वह निर्वाण का अधिकारी है। उसके प्रति हमारे हृदय में मैत्री एव प्रमोदभाव होना चाहिए । आचार में रहने वाली भिन्नता मध्यस्थदृष्टि मे बाधक है। वेष की भिन्नता को भी मध्यस्थदृष्टि मे बाधक नही गिनना चाहिए। वेष एव आचार के आधार पर जीव की योग्यता व अयोग्यता का निर्णय दोषपूर्ण होता है। मध्यस्थदृष्टि के माध्यम से जीव की योग्यता-अयोग्यता की परीक्षा होती है। केवलज्ञान के महोदधि में मध्यस्थदृष्टि की भिन्न भिन्न नदियाँ जाकर मिलती है और वे केवलज्ञान स्वरूप बन जाती है।

स्वागम रागमात्रेण द्वेषमात्रात् परागमम् ।
न श्रयामः त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥७॥

ग्रंथकार यहा एक आक्षेप का प्रत्युत्तर दे रहे हैं । आक्षेप यह है कि "आप पक्षपात त्याग कर मध्यस्थभाव रखने का दूसरे जीवो को उपदेश देते है तब आप दूसरे दर्शनकारो के शास्त्रो को क्यो नही स्वीकार करते, और अपने स्वय के शास्त्रो को कैसे स्वीकार करते हैं ? क्या यह राग-द्वेष नही है ?"

समाधान यह है स्वसिद्धान्त का मात्र स्वसिद्धान्त होने के राग से स्वीकार नही करते । इस स्वीकृति के पीछे विशिष्ट विचार किया जाता है । उसी प्रकार परसिद्धान्त का त्याग किसी द्वेष से नही किया जाता है परन्तु इस त्याग के पीछे भी एक विशिष्ट दृष्टि है । अर्थात् स्वीकार और त्याग करने मात्र से ही राग एव द्वेष सिद्ध नही होते । यह स्वीकृति एव त्याग कई विशिष्ट दृष्टियो से किया जाता है । जिन पर पक्षपात या मध्यस्थ दृष्टि का निर्णय हो सकता है ।

सिद्धान्त का त्याग या स्वीकार मध्यस्थदृष्टि से विचार करके ही किया जाता है । मध्यस्थदृष्टि युक्ति का अनुसरण करती है । जिसमे युक्ति दिखती है उसी तरफ झुकती है । युक्तिरहित वचन का त्याग कर देती है । हम तो स्पष्ट कहते है कि —

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

हमें न तो भगवन्त महावीर का पक्षपात है और न ही कपिलादि मुनियो के प्रति द्वेष है परन्तु जिसका वचन युक्तियुक्त है वह स्वीकार करने योग्य है ।

हमारे सामने दो प्रकार के वचन आते है। हम दोनों वचन सुन लेते है। जो वचन हमें युक्तिसंगत लगेगा उसका हम आदरपूर्वक स्वीकार करेंगे, क्या यह पक्षपात है? जो वचन हमें युक्तिसगत नही लगे उसका हम त्याग करे तो क्या यह द्वेप कहलायेगा? किसी भी वचन की युक्तिसंगतता का पता लगाने के लिए उसकी विविध प्रकार से परीक्षा करनी चाहिए, जिस प्रकार स्वर्ण की त्रिविधि परीक्षा की जाती है।

परीक्षन्ते कषच्छेदतापैः स्वर्णं यथा जनाः।
शास्त्रेऽपि वर्णिकाशुद्धिं परीक्षन्तां तथा बुधाः ॥

कप–च्छेद और ताप इन तीन प्रकार की परीक्षा से शास्त्रों को जाचना चाहिए। जिस शास्त्र में विधि एवं प्रतिपेधों का खूब वर्णन किया गया हो तथा वह एकाधिकार परस्पर विरोधी न हो तो वह "कप" नामक परीक्षा में उत्तीर्ण कहलाता है। उस विधि एवं निपेध के पालन का योग–क्षेम करने वाली क्रियाये यदि वताई गई हो तो वह शास्त्र "छेद" परीक्षा में उत्तीर्ण कहलाता है। और उसके अनुरूप सिद्धान्त का प्रति–पादन किया गया हो तथा यदि सिद्धान्त परस्पर विरोधी न हो तो उन्हे "ताप" परीक्षा में उत्तीर्ण कहा जा सकता है।

न श्रद्धयंव त्वयि पक्षपातो न द्वेपमात्रादरुचिः परेपु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ॥

"हे वीर प्रभु! हमें केवल श्रद्धावश ही तुम्हारे प्रति पक्षपात नही है और न केवल द्वेप–वश अन्य के प्रति अरुचि, परन्तु यथार्थ आप्तपन की परीक्षा से ही हमने आपका आश्रय लिया है।" जिस प्रकार युक्ति के अनुसरण में मध्यस्थपन रहता है उसी रीति से सिद्धान्त को वताने वाले पुरुप का

आप्तपन भी मध्यस्थ दृष्टि मे अपेक्षित है। जो वक्ता-आप्तपुरुष वीतराग है उसी का वचन स्वीकार करने योग्य है। जो वक्ता वीतराग नही है उसका वचन राग-द्वेष से युक्त होता है, अत वह त्याज्य होता है। इस प्रकार मध्यस्थदृष्टि आत्मा का त्याग और स्वीकार यथार्थ ही होता है।

मध्यस्थया दृशा सर्वेष्वपुनर्बंधकादिषु ।
चारिसजीविनीचारन्यायादाशास्महे हितम् ॥८॥

स्वस्तीमती नगरी थी। उसमे दो ब्राह्मण कन्यायें रहती थी। दोनो के बीच मे अटूट मित्रता थी। दोनो के विवाह हुए व अलग २ गांवो में चली गई। एक बार दोनो सखियाँ शामिल हुई व अपने सुख दु ख की बातें करने लगी।

एक सखी ने कहा 'बहिन, मैं बहुत दुखी हूँ। मेरा पति मेरे आधीन नही हैं।'

दूसरी सखी ने कहा 'तू चिन्ता न कर। मैं तुझे एक जडीबूटी देती हूँ, उसे तुम अपने पति को खिला देना, फिर वह तुम्हारे वश मे आ जायेगा।'

उसने जडी सखी को दे दी और चली गई। सखी ने वह जडी अपने पति को खिला दी। उससे उसका पति बैल बन गया। पति का बैल बना देख कर वह बहुत दु खी बन गई। वह बैल-पति को रोज चराने ले जाने लगी। सेवा-सुश्रूषा करने लगी।

एक दिन की बात है। स्त्री बैल को एक पेड के नीचे चरा रही थी। उस पेड पर एक विद्याधर-युगल बैठा था। विद्याधर बैल को देखकर अपनी स्त्री से कहने लगा 'यह मूलरूप से बैल नही है पर जडी खिलाने से पुरुष से बैल बन गया है।'

तब विद्याधरी ने पूछा: "तो क्या अब यह पुन: पुरुष नही बन सकता ? बेचारी इसकी स्त्री कैसी दु:खी लगती है ?'

विद्याधर ने कहा : 'यदि इसे 'संजीवनी' नाम की जडी खिलाई जाय तो यह पुन: पुरुष बन सकता है। यह सजीवनी इस बड़ के नीचे ही है।'

नीचे बैठी स्त्री विद्याधर व विद्याधरस्त्री की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हो रही थी। परन्तु वह 'संजीवनी' बूटी को पहचानती नही थी। घास ज्यादा था, क्या करे ? तब उसने विचार किया कि : बड़ के नीचे की सारी वनस्पति चरा दूं, इसमे सजीवनी भी आ जायेगी।

उसने इसी प्रकार किया। जिससे उसका पति बैल से पुन: पुरुष बन गया।

चाहे अपुनर्बंधक हो, मार्गपतित हो, मार्गाभिमुख हो समकिती, देश विरति या सर्वविरति साधु हो। यदि उनको मध्यस्थ भाव–(आत्मानुकूल समभाव) की जड़ी खिलाई जावे तो अनादिपरभाव की परिणति की पशुता दूर हो जाती है, और स्वरुप के ज्ञान में कुशल भेदज्ञानी पुरुष बन जाता है। मध्यस्थ भाव ऐसा महान् हितकारी है। पर उसके लिए कदाग्रह का त्याग करना ही पड़ता है। असद्ग्रह मनुष्य का भयकर पतन करता है।

व्रतानि चीर्णानि तपोऽपि तप्तं
कृता प्रयत्नेन च पिण्डविशुद्धिः।
अभूत्फलं यत्तु न निह्नवानां
असद्ग्रहस्यैव हि सोऽपराधः ॥

—अध्यात्मसार

व्रत-तप, विशुद्ध भिक्षावृत्ति सब था, परन्तु निह्नवो की वह सब क्रिया निष्फल गई। क्यो ? असद् आग्रह का यह अपराध था।" इसलिए असद्आग्रह का त्याग कर मध्यस्थ भाववाला बनना चाहिए।

आमे घटे वारि धृत यथा सद्
विनाशयेन्म्र च घट च मद्य.।
असद्ग्रहग्रस्तमतेस्तथैव
श्रुतप्रदतादुभयोर्विनाशः ॥

"कच्चे घडे मे यदि पानी भरा जाय तो घडा और पानी दोनो का विनाश होगा। उसी प्रकार असद्आग्रही को श्रुतज्ञान दिया जाय तो ज्ञान एव उसे ग्रहण करने वाले दोनो का ही का नाश हो जाय।" इसलिए असद् आग्रह का त्याग कर मध्यस्थदृष्टि वाले बनकर परमतत्त्व का अन्वेषण करना चाहिए।

'ज्ञानसार' के परिशिष्ट

— ❀ —

१. कृष्ण पक्ष–शुक्ल पक्ष

अनन्तकाल से अनन्त जीव चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण कर रहे है। वे जीव दो प्रकार के हैं। भव्य तथा अभव्य। जिस जीव में मोक्षावस्था प्राप्त करने की योग्यता होती है उसे 'भव्य' कहा जाता है तथा जिस जीव में वह योग्यता नही होती उसे 'अभव्य' कहते हैं।

भव्य-जीव का संसारपरिभ्रमणकाल जब एक 'पुद्‌गल परावर्त' बाकी रहता है, अर्थात् मोक्षदशा प्राप्त करने के लिए एक पुद्‌गल-परावर्त काल बाकी रहता है, तब वह जीव 'चरमावर्त' में आया हुआ कहा जाता है।

एक पुद्‌गल परावर्त का आधे से अधिक काल व्यतीत होने पर, वह जीव 'शुक्लपाक्षिक' कहलाता है। किन्तु जो जीव कालमर्यादा में नही आया होता है वह 'कृष्णपाक्षिक' कहलाता है, अर्थात् वह जीव कृष्णपक्ष जैसे मोह··· अज्ञानता के प्रगाढ़ अन्धकार में रहा हुआ होता है।

श्री जीवाभिगम-सूत्र के टीकाकार महर्षि ने भी उपरोक्त बात का समर्थन किया है:—

'इह द्वये जीवाः तद्यथा–कृष्णपाक्षिकाः शुक्लपाक्षिकाश्च। तत्र येषां किञ्चिदूनार्द्धपुद्‌गलपरावर्त्तः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः इतरे दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः।

इसी बात को पूज्य उपाध्याय जी ने 'ज्ञानसार' के 'टब्बे' में अन्य शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया है।

जेसिं अवड्ढपुग्गलपरियट्टो सेसम्रो य संसारो ।
ते सुक्कपक्खिया खलु अवरे पुण कण्हपक्खिया॥

उपरोक्त शास्त्रकारो की मान्यताओ की अपेक्षा श्री दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र के चूर्णीकार की मान्यता भिन्न है । उन्होंने इस प्रकार प्रतिपादन किया है

'जो अकिरियावादी सो भवितो अभविउ व नियमा किण्हपक्खिओ, किरियावादी नियमा भव्वओ नियमा सुक्कपक्खिओ। अतोपुग्गलपरियट्टस्स नियमा सिज्झिहिति । सम्मदिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा होज्ज ।'

'जो जीव अक्रियावादी है, भले ही वह भव्य अथवा अभव्य हो, वह अवश्य कृष्णपाक्षिक है। जबकि क्रियावादी भव्य आत्मा निश्चय ही शुक्लपाक्षिक है। और वह एक पुद्गल-परावर्तकाल मे अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। वर्तमान मे वह जीव भले ही सम्यगदृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि हो ।'

चूर्णीकार की मान्यतानुसार चरमावर्त काल शुक्लपक्ष है, यह मान्यता तर्क-सम्मत भी लगती है। शुक्लपक्ष के प्रारम्भ मे जिस प्रकार अल्पकालीन चन्द्रोदय होता है, उसी तरह चरमावर्तकाल मे आने पर जीव के आत्म-आकाश मे कतिपय गुणो का चन्द्रोदय होता है। पूजनीय आचार्यदेव श्री हरिभद्र-सूरीश्वरजी महाराज ने 'योगदृष्टिसमुच्चय' नामक ग्रंथ मे चरमावर्तकालीन जीव को भद्रमूर्ति महात्मा कहा है । उन्होंने इस भद्रमूर्ति महात्मा के तीन विशेष गुण बताए है ।

दुःखितेषु दयात्यन्त–मद्वेषो गुणवत्सु च ।
औचित्यासेवनं चैव सर्वत्रैवाविशेषतः ॥३२॥

दुःखी जीवों के प्रति अत्यन्त करुणा, गुणीजनों के प्रति राग, और सर्वत्र अविशेषरूप से औचित्य का पालन, इन तीन गुणों से सुशोभित भद्रमूर्ति महात्मा को 'शुक्लपाक्षिक' कहने में श्री दशाश्रुतस्कंध के चूर्णीकार महापुरुष की मान्यता योग्य लगती प्रतीत होती है। 'तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति ।' तत्त्व तो केवली भगवान जाने ।

'श्री पंचाशक' ग्रंथ में याकिनीमहत्तरासूनु हरिभद्राचार्य ने शुक्लपाक्षिक श्रावक का वर्णन किया है :

परलोयहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो ।
अइतिव्वकम्मविगमा सुक्को सो सावगो एत्थ ॥२॥

—प्रथमपंचाशक

'सम्यक् प्रकार से उपयोगपूर्वक जो श्रावक परलोक हितकारी जिनवचन का श्रवण करता है और अति तीव्र पाप कर्म जिसके क्षीण हो गये है, वह शुक्लपाक्षिक श्रावक कहलाता है।

२. ग्रन्थि भेद

जिस किसी भी प्रकार से 'तथाभव्यत्व' के परिपाक से जीवात्मा [1]'यथाप्रवृत्तिकरण' द्वारा आयुष्य कर्म के अतिरिक्त

१ गुरुतरगिरिसरित्–प्रवाहवाह्यमानोपलघोलनाकल्पेन ऽध्यवसायविशेषरूपेण अनाभोगनिर्वर्तितेन यथाप्रवृत्तिकरणेन ।

—प्रवचनसारोद्धारे

ज्ञानावरणीयादि सातो कर्मों की [१]'पृथक पल्योपम' के सख्याता भाग न्यून एक क्रोडाक्रोड सागरोपम प्रमाण स्थिति कर देता है।

जब कर्मों की इस प्रकार से मर्यादित कालस्थिति हो जाती है तब जीव के समक्ष एक अभिन्न ग्रन्थि आती है। तीव्र राग-द्वेष के परिणामस्वरूप यह ग्रन्थि होती है। उस ग्रन्थि का सर्जन अनादि कर्मपरिणाम द्वारा हुआ होता है।

अभव्यजीव यथाप्रवृत्तिकरण से ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों की दीर्घस्थिति का क्षय करके अनतवार इस 'ग्रथि' के द्वार पर आते हैं। परन्तु ग्रथि की भयकरता देख कर ग्रथि को भेदने की कल्पना भी नही कर सकते उसे भेदने का पुरूषार्थ करना तो दूर रहा। वही से वह वापस लौटता है—पुन वह सक्लेश मे फस जाता है। सक्लेश द्वारा पुन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बाधता है। भवभ्रमण मे चला जाता है।

भव्य जीव भी अनन्तवार इस प्रकार से ग्रथि प्रदेश के द्वार पर आकर ही घबडाते हुए वापिस लौट जाते हैं। परन्तु जब वे 'भव्य' महात्मा को 'अपूर्वकरण' की परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है, कि जिस अपूर्वकरण की परमविशुद्धि को श्री 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रथ के टीकाकार ने 'निसिताकुण्ठ-कुठारधारा' की उपमा दी है। वह तीक्ष्ण कुल्हाडी की धारा के समान परम विशुद्धि द्वारा समुल्लसित दुर्निवार वीर्यवाला महात्मा ग्रथि को भेद कर परमनिवृत्ति के सुख का आस्वाद कर लेता है।

---

[१] आयुर्वर्जानि ज्ञानावरणादिकर्माणि सप्ताप्यपि पृथक्पल्योपमसंख्येयभाग-न्यूनसागरोपमकोटीकोटीस्थितिकानि करोति। —प्रवचनसारोद्धारे

अब यह महात्मा किस प्रकार से राग-द्वेष की निविड़ ग्रन्थि का भेद डालता है, उसे एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है।

[३]कुछ पथिक यात्रा के हेतु निकले। एक गहन वन में से गुजरते हुए उन्होंने दूर से डाकुओं को देखा। डाकुओं के रौद्र स्वरूप को देखकर कुछ पथिक तो वहीं से पीछे भाग गये। कुछ पथिकों को डाकुओं ने पकड़ लिया। जब कि शेष शूरवीर पथिको ने डाकुओं को भूशरण कर आगे प्रयाण किया। वन को पार कर तीर्थस्थान पर जा पहुंचे।

[४]मोहनीय कर्म की उत्कृष्टस्थिति बांधने वाले वे भागने वाले पथिकों जैसे हैं। जो डाकुओं द्वारा पकड़े गये थे वे ग्रंथि देश में रहे हुए जीव है। जो डाकुओं को परास्त कर तीर्थस्थान पर पहुचे वे ग्रंथि को भेद कर समकित को प्राप्त करने वाले हैं।

'सम्यक्त्वस्तव' प्रकरणकार इस प्रकार से ग्रंथिभेद की प्रक्रिया बताते है। 'अर्धपुद्गलपरावर्त काल जीव का ससार-काल बाकी है, जो जीव भव्य है, पर्याप्त-संज्ञी-पंचेन्द्रिय है, वे जीव अपूर्वकरणरूपी मुद्गर के प्रहार से ग्रंथिभेद करके, अन्तर्मुहूर्त में ही 'अनिवृत्तिकरण' करते है और वहां सम्यक्त्व प्राप्त करते है।

३. अध्यात्मादि योग

जैनदर्शन का योगमार्ग कितना स्पष्ट, सचोट, तर्क-सगत तथा कार्यसाधक है, उसकी सूक्ष्म दृष्टि से तथा गभीर

३ 'सम्यक्त्वस्तव' प्रकरणे

४ मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोडाकोडी सागरोपम है।

हृदय से शोध करने की आवश्यकता है। यहा क्रम से [1]अध्यात्मयोग, [2]भावनायोग, [3]ध्यानयोग, [4]समतायोग और [5]वृत्तिसक्षययोग का विवेचन किया जाता है।

१. अध्यात्मयोग

'योग' शब्द की परिभाषा 'मोक्षेण योजनाद् योग ।' इस प्रकार से करने मे आई है। अर्थात् जिसके द्वारा जीवात्मा मोक्षदशा प्राप्त करे, वह योग है। इस योग की, साधना की दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास की पाच भूमिकाए अनतज्ञानी परमपुरुषो ने देखी है। उनमे से प्रथम भूमिका अध्यात्मयोग की है।

उपाध्याय जी ने 'अध्यात्मसार' ग्रन्थरत्न मे 'अध्यात्म' की व्याख्या इस प्रकार की है

[1]गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या ।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्म जगुर्जिनाः ॥

जिन आत्माओ के ऊपर से मोह का अधिकार वचस्व उठ गया है, वे आत्माए स्व-पर की आत्मा को अनुलक्षित करके जो विशुद्ध क्रिया करती हैं (मन, वचन, काया से) उसे श्री जिनेश्वरदेव ने 'अध्यात्म' कहा है।

जीवात्मा पर से मोह का वर्चस्व टूट जाने पर जीवात्मा का आतरिक एव वाह्य स्वरूप कैसा वन जाता है, उसका विशद वणन, भगवत हरिभद्राचार्य ने 'योगबिन्दु' ग्रन्थ मे किया है।

---

१ अध्यात्मसारे-अध्यात्मस्वरूपाधिकारे।

[२]उस जीव का आचरण सर्वत्र औचित्य से उज्ज्वल होता है। स्व-पर के उचित कर्त्तव्यों को समझकर तदनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाला वह होता है। उसका एक-एक शब्द औचित्य की सुवास से मघमघायमान होता है।

उसके जीवन में पांच अणुव्रत या पांच महाव्रत रम गये हुए होते है। व्रतों का प्रतिज्ञाबद्ध पालन करता हुआ, यह महामना योगी लोकप्रिय बनता है।

श्री वीतराग सर्वज्ञ भगवतों के द्वारा निर्देशित नवतत्त्वो की निरन्तर पर्यालोचना उसके मनमें चलती रहती है। यह पर्यालोचन मैत्री-प्रमोद-करूणा-माध्यस्थ्यमूलक होती है। अर्थात् इसके चितन में जीवो के प्रति मैत्री की, प्रमोद की, कारुण्य की और माध्यस्थ्य की प्रधानता होती है। इस प्रकार औचित्य, व्रतपालन, और मैत्र्यादिप्रधान नवतत्त्वों का चिंतन यह वास्तविक 'अध्यात्म' है।

[३]'इस अध्यात्म से ज्ञानावरणीयादि क्लिष्ट पापो का नाश होता है। साधना में आंतरवीर्य उल्लसित होता है। चित्त की निर्मल समाधि प्राप्त होती है। सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, जो कि जात्यरत्न के प्रकाश जैसा अप्रतिहत होता है। अध्यात्म का यह दिव्य अमृत अति दारुण मोह रूपी विष के विकारों का उन्मूलन कर डालता है। इस आध्यात्मिक पुरुष का मोह पर वर्चस्व जम जाता है।

२ औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात्तत्वचिंतनम्।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥३५८॥ योगबिन्दुः।

३ अतः पापक्षयः सत्त्वं शील ज्ञानं च शाश्वतम्।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ॥३५९॥ योगबिन्दुः।

[४]उपर्युक्त औचित्यपालन, व्रतपालन और मैत्र्यादि-प्रधान नव तत्त्वो का प्रतिदिन अनुवतन-अभ्यास करना, उसका नाम भावनायोग है। जैसे-जैसे अभ्यास बढता जाता है वैसे-वैसे उसमे समुत्कर्ष होता जाता है और मन की समाधि बढती जाती है।

[५]यह भावनायोग सिद्ध होने पर अशुभ अध्ययवसायो (विचारो) से जीव निवृत्त होता है। ज्ञान, दशन, चारित्र, तप वगैरह शुभ भावो के अभ्यास के लिए अनुकूल भावना की प्राप्ति होती है, और चित्त का सम्यक् समुत्कप होता है।

[६]भावनायोगी के आतरिक क्रोधादिकपाय मद पड जाते हैं। इन्द्रियो का उन्माद शात हो जाता है। मन-वचन काया के योगो को वह सयमित रखता है। मोक्षदशा प्राप्त करने की अभिलापावाला बनता है और विश्व के जीवो के प्रति वात्सल्य धारण करता है। ऐसी आत्मा निर्दंभ हृदय से जो क्रिया करती है, उससे उसके अध्यात्म-गुणो की वृद्धि होती है।

३. ध्यानयोग

[१]प्रशस्त किसी एक अथ पर चित्त की स्थिरता होना, उसका नाम 'ध्यान' है। वह ध्यान धमध्यान या शुक्लध्यान

---

४ अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेय प्रत्यह वृद्धिसगत ।
मन समाधिसयुक्त पौन पुन्येन भावना ॥३६०॥ योगबिन्दु ।

५ निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता ।
तथा सुचित्तवृद्धिश्च भावनाया फल मतम ॥३६१॥ योगबिन्दु ।

६ दान्तो दान्त सदा गुप्ता मोक्षार्थी विश्ववत्सल ।
निर्दम्भा या क्रिया कुर्यात साध्यात्मगुणवृद्धये ॥२२५॥ अध्यात्मसार ।

हो तो वह ध्यानयोग बनता है। भूमिगृह कि जहाँ वायु का प्रवेश नही हो सकता, वहां जलते हुए दीपक की ज्योति के समान ध्यान स्थिर हो, अर्थात् स्थिर दीपक के जैसा हो। चित्त का उपयोग उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य वगैरह सूक्ष्म पदार्थो में होना चाहिए। इस प्रकार 'श्री योगबिन्दु' ग्रंथ में प्रतिपादन किया हुआ है।

"[७]इस ध्यानयोग से प्रत्येक कार्य में भावस्तैमित्य आत्मस्वाधीन बनता है। पूर्व कर्मो के बंध की परम्परा का विच्छेद हो जाता है।

४. समतायोग

अनादिकालीन तथ्यहीन वासनाओं के द्वारा होने वाले सकल्पो से, जगत् के जड़-चेतन पदार्थो में जीव इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है। इष्ट में सुख मानताहै, अनिष्ट में दुःख मानता है।

समतायोगी महात्मा जगत के जड़-चेतन पदार्थो पर एक दिव्य दृष्टि डालता है! न तो उसको कोई इष्ट लगता है और न अनिष्ट! वह परामर्श करता है:

'तानेवार्थान् द्विषतः तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा॥
—प्रशमरति

"जिन पदार्थो के प्रति जीव एक बार द्वेष करता है, उन्ही पदार्थो के प्रति वह राग करता है। 'निश्चयनय' से

---

७ वशिता चैव सर्वत्र भावस्तैमित्यमेव च।
अनुबन्धव्यच्छेद उदर्कोऽस्येति तद्विदः ॥३६३॥ योगबिन्दुः।

पदार्थ मे कोई ईष्टता नही है कोई अनिष्टता नही है। वह तो वासनावासित जीव की भ्रमित कल्पना मात्र है।

'प्रियाप्रियत्वयोर्यार्थे व्यवहारस्य कल्पना।'

—अध्यात्मसारे

प्रियाप्रियत्व की कल्पना 'व्यवहार नय' की है। निश्चय से न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय।

'निकल्पकल्पित तस्माद् द्वयमेतन्न तात्त्विकम्।'

—अध्यात्मसारे

विकल्पशिल्पी द्वारा बनाये गये ईष्ट-अनिष्टो के महल तात्त्विक नही, सत्य नही, हकीकत नही..

इस विवेकज्ञानवाला समतायोगी जगत के सर्व पदार्थो मे मे ईष्टानिष्ट की कल्पना को दूर कर समतारस मे निमग्न बन जाता है।

समता-शचि का स्वामीनाथ योगीन्द्र समता-शचि के उत्सग मे रसलीन बनकर परम ब्रह्मानद का अनुभव करता है। नही वह अपनी दिव्य शक्ति का उपयोग करता और न वह इस कारण से समता-राणी के साथ को छोडता है। इस परिस्थिति मे उसका एक महान् काय सिद्ध होता है। केवलज्ञान, केवलदशन, यथाख्यात चारित्र आदि को घेर कर रहे हुए दुकर्मो का क्षय हो जाता है। 'अपेक्षातन्तुनिच्छेद।' अपेक्षा तो कमबध का मूल है वह मूल उखड जाता है।

इस समतायोगी के गले मे कोई भक्त आकर पुष्पमाला या चदन का लेप कर जाय कोई शत्रु आकर कुल्हाडे का

घाव कर जाय .... न तो उस भक्त पर राग और न उस शत्रु पर द्वेष ! दोनों पर समान दृष्टि ! दोनो के शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही दृष्टि !

[८]श्री उपाध्यायजी ने इस 'समता' के मुक्तकंठ से गीत गाये है !

५–वृत्तिसंक्षय योग

निस्तरग महोदधि समान आत्मा की वृत्तियाँ दो प्रकार से दृष्टिगोचर होती हैं; (१) विकल्परूप (२) परिस्पदरूप। ये दोनो प्रकार की वृत्तियाँ आत्मा की स्वाभाविक नही है परंतु अन्य संयोगजन्य है। तथाविध मनोद्रव्य के संयोग से [*]विकल्परूप वृत्तियाँ जाग्रत होती हैं। [×]शरीर से परिस्पन्दरूप वृत्तियाँ प्रगट होती हैं।

जब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तब विकल्परूप वृत्ति का सक्षय हो जाता है। ऐसा क्षय हो जाता है कि पुनः अनंतकाल के लिए आत्मा के साथ उसका सबंध ही न हो। 'अयोगी केवली' अवस्था में परिस्पंदरूप वृत्तियाँ का भी विनाश हो जाता है।

इसका नाम है वृत्तिसक्षययोग।

इस योग का फल है—केवलज्ञान ओर मोक्षप्राप्ति !

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसम्परिग्रहः।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ॥३६७॥

—योगबिन्दुः

---

८ देखो : अध्यात्मसार—समताधिकारे।

*मानसिक विचार

×शारीरिक क्रियाएँ

४ चतुर्विध सदनुष्ठान

सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र के गुणो की वृद्धि जिस क्रिया द्वारा होती है उसे सदनुष्ठान कहा जाता है। सत्क्रिया कहे अथवा सदनुष्ठान कहे, दोनो समान हैं।

इस सदनुष्ठान के चार प्रकार 'श्री षोडषक' ग्रन्थ मे श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी ने बताये हैं। उसी प्रकार 'योग-विंशिका' ग्रन्थ की टीका मे पूज्य उपाध्याजी ने भी चार अनुष्ठानो का विशद वर्णन किया है।

१. प्रीति-अनुष्ठान

*आत्महितकर अनुष्ठान के प्रति, अनुष्ठान बतानेवाले सद्गुरु के प्रति और सर्वजन्तुवत्सल तारक जिनेश्वरभगवत के प्रति परम प्रीति उत्पन्न होनी चाहिए। अनुष्ठान विशिष्ट प्रयत्नपूर्वक करने मे आवे, अर्थात् जिस समय करना हो उसी समय किया जाय। भले ही दूसरे सैंकडो काम बिगडते हो।

एक वस्तु के प्रति दृढ प्रीति जगने के बाद, फिर उसके लिए जीव क्या नही करता ? किसका त्याग नही करता ? उपर्युक्त हकीकत 'श्री योगविंशिका' मे दर्शायी गई है। 'यत्रानुष्ठाने १ प्रयत्नातिशयोऽस्ति, २ परमा च प्रीतिरुत्पद्यते, ३ शेषत्यागेन च यत्क्रियते तत्प्रीत्यनुष्ठानम्।'

---

*यत्रादरोऽस्ति परम प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्त्तु ।
शेषत्यागेन करोति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥

—दशम-षोडशके

२. भक्ति-अनुष्ठान

भक्ति-अनुष्ठान में भी ऊपर की ही तीन वस्तुएँ होती है। किन्तु अन्तर आलम्बनीय को लेकर पड़ता है। भक्ति-अनुष्ठान में आलम्बनीय में विशिष्ट पूज्यभाव की बुद्धि जाग्रत होती है, उससे प्रवृत्ति विशुद्धतर बनती है।

[1]पूज्य उपाध्यायजी ने प्रीति और भक्ति के भेद को बताते हुए पत्नी और माता का दृष्टान्त दिया है। मनुष्य में पत्नी के प्रति प्रीति होती है और माता के प्रति भक्ति होती है। दोनों के प्रति कर्त्तव्य समान होते हुए भी माता के प्रति पूज्यभाव की बुद्धि होने से उसके प्रति का कर्त्तव्य उच्च माना जाता है।

अर्थात् [2] अनुष्ठान के प्रति विशेष गौरव जाग्रत हो, उसके प्रति महान् सद्‌भाव उल्लसित हो तब वह अनुष्ठान भक्तिअनुष्ठान कहा जाता है। महायोगी श्री आनदघनजी ने प्रथम जिनेश्वर की स्तवना—

'ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो
और न चाहुं कंत...

इस प्रकार की है। उसे हम प्रीति अनुष्ठान में गिन सकते है। कारण कि उसमें योगीराज ने अपनी चेतना में पत्नी-पन का आरोप किया है। और परमात्मा में स्वामीपन की

---

१ अत्यन्तवल्लभा खलु पत्नी तद्वद्धिता च जननीति।
तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥ —योगविंशिका

२ गौरवविशेषयोगाद् बुद्धिमतो यद् विशुद्धतरयोगम्।
क्रिययेतरतुल्यमपि ज्ञेयं तद्‌भक्त्यनुष्ठानम् ॥ —दशम-षोडषके

कल्पना की है। स्तवना मे प्रीतिरस की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है।

३. वचनानुष्ठान

'शास्त्रार्थप्रतिसधानपूर्वा साधो. सर्वत्रोचितप्रवृत्ति' ।'

—योगविंशिका

पच महाव्रतधारी साधु इस अनुष्ठान की उपासना कर सकता है। प्रत्येक काल मे और प्रत्येक क्षेत्र मे साधु मुनि श्रमण शास्त्र की आज्ञाओ के मर्म को समझ कर जो उचित प्रवृत्ति करें वह 'वचनानुष्ठान' कहलाता है। श्री 'षोडशक' मे भी इसी प्रकार वचनानुष्ठान वतलाया है।

'वचनात्मिका प्रवृत्ति सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु ।
वचनानुष्ठानमिद चारित्रवतो नियोगेन ॥'

४. असगानुष्ठान

दीर्घकालपर्यंत जिनवचन के लक्ष से अनुष्ठान करने वाले महात्मा के जीवन मे ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना ऐसी आत्मसात् हो जाती है, कि पीछे से उस महात्मा को यह विचारना नही पडता कि 'यह क्रिया जिनवचनानुसार है या नही ?' जिस प्रकार चदन मे सुवास एकीभूत होती है उसी प्रकार ज्ञानादि की उपासना उस महात्मा मे एकीरस वन जाती है, तव वह 'असगानुष्ठान' कहलाता है। यह अनुष्ठान

---

१ यत्त्वभ्यासातिशयात् सात्मीभूतमिव चेष्टयते सद्भि ।
तदसङ्गानुष्ठान भवति त्वेतत्तदावेधात् ॥

—दशम षोडशके

'जिनकल्पी आदि विशिष्ट महापुरुषों के जीवन में हो सकता है।

५. ध्यान

'ध्यान' के विषय में प्रथम सर्वसाधारण व्याख्या का निरूपण के करउसके भेद-प्रभेद पर परामर्श करेंगे।

'ध्यानविचार' ग्रंथ में [1] चिन्ता-भावनापूर्वक स्थिर अध्ययवसाय को 'ध्यान' कहा है।

श्री आवश्यकसूत्र-प्रतिक्रमण अध्ययन में 'ध्यातिर्ध्यानिम् कालतः अन्तर्मुहुर्तमात्रम्'। इस प्रकार ध्यान का सातत्य अन्तर्मुहुर्त वताया है।

श्री आवश्यक सूत्र-प्रति अ० में ध्यान के चार भेद बताये गये है। (१) आर्त (२) रौद्र (३) धर्म (४) शुक्ल

'श्री ध्यानविचार' में इन चारों प्रकारों में से तीन प्रकारों को दो भागों में विभाजित किया है, और शुक्लध्यान को 'परमध्यान' कहा है।

'द्रव्यतः आर्तरौद्रे, भावतस्तु आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थानविचयभिदं धर्मध्यानम्'।

१. आर्तध्यान

[2] शोक, आक्रन्द, विलापादि जिसमें हो वह आर्तध्यान कहलाता है।

---

१ चिन्ता-भावनापूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायो ध्यानम्।
—ध्यानविचारे

२ 'शोकाक्रन्दनविलपनादिलक्षणमार्तम्।'
आवश्यकसूत्र प्रतिक्रमणाध्ययने।

[3]श्री औपपातिक (उपाग) सूत्र मे आर्त ध्यान के चार लक्षण बताए हैं

(१) कदणया जोरो की आवाज करके रोना।
(२) सोअणया दीनता करनी।
(३) तिप्पणया आँख मे से अश्रु निकालना।
(४) विलवणया बार-बार कठोर शब्द बोलना।

२. रौद्र ध्यान

श्री 'औपपातिक सूत्र' मे रौद्र ध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं

(१) उसण्णदोसे निरतर हिंसा, असत्य चोरी आदि करना।

(२) बहुदोसे हिंसादि सर्व पापो मे प्रवृत्ति करनी।

(३) अण्णाणदोसे अज्ञान मे कुशास्त्रो के सस्कार से हिंसादि पापो मे धमबुद्धि से प्रवृत्ति करनी।

(४) आमरणतदोसे आमरणात थोडा सा भी पश्चात्ताप किए बिना कालसौकरादि[4] की तरह हिंसादि मे प्रवृत्ति करनी।

इस आर्त-रौद्र ध्यान के फल का विचार 'श्री आवश्यक सूत्र' के प्रतिक्रमण-अध्ययन मे किया गया है। आर्तध्यान का फल परलोक मे तिर्यचगति और रौद्रध्यान का फल नरकगति होता है।

---

३ अट्टस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा—कदणया-सोअणया-तिप्पणया विलवणया। —औपपातिकोपागे।

४ कालसौरिक नाम का कसाई रोज ५०० पाडों का रोज वध करता था।

धर्मध्यान

[1]श्री 'हरिभद्री अष्टक' ग्रंथ में धर्मध्यान की यथार्थ एवं सुन्दर स्तुति की गई है।

❀सैकड़ों भवों में उपार्जित किये हुए अनंत कर्मों के गहन वन के लिये अग्नि समान है।

❀सर्वतप के भेदों में श्रेष्ठ है।

❀आंतर तपःक्रियारुप है।

[2]धर्मध्यान के चार लक्षण हैं : (१) आज्ञारुचि (२) निसर्गरुचि (३) उपदेशरुचि (४) सूत्ररुचि।

(१) आज्ञारुचि : श्री जिनेश्वरदेव के वचन की अनुपमता, कल्याणकारिता, सर्व सत्तत्त्वों की प्रतिपादकता वगैरह को देखकर उस पर श्रद्धा करना।

(२) निसर्गरुचि: ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय आत्मपरिणाम।

(३) उपदेशरुचि : जिन वचन के उपदेश को श्रवण करने का भाव और अन्य जीवों को जिनवचन का उपदेश देने की भावना।

(४) सूत्ररुचि : द्वादशांगी का अध्ययन एवं अध्यापन की भावना।

---

१ भवशतसमुपचितकर्मवनगहनज्वलनकल्पम्।
अखिलतपःप्रकारप्रवरम्। आन्तरतपःक्रियारुपम्।

२ धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारी लक्खणा-आज्ञारुई-णिसग्गरुई-उवएसरुई सुत्तरुई। श्री औपपातिकसूत्रे।

[1]धर्मध्यान के चार आलबन हैं

(१) वाचना (२) पृच्छना (३) परावर्तना (४) धर्मकथा

अर्थात् सद्गुरु के पास विनयपूर्वक सूत्र का अध्ययन करना। उसमे अगर शका हो तो विधिपूर्वक गुरू महाराज के पास जाकर पृच्छा करना। नि शक बने हुए सूत्रार्थ भूल न जायँ इसलिये बार-बार उसका परावर्तन करना। और इस प्रकार आत्मसात् हुए सूत्रार्थ का सुपात्र के सामने उपदेश देना। ऐसा करने से धर्मध्यान मे स्थिरता प्राप्त होती है।

[2]धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा है

(१) अनित्य भावना (२) अशरण भावना (३) एकत्व भावना और (४) ससार भावना।

इन चार भावनाओ का निरन्तर चिन्तन करने से धर्मध्यान उज्वल बनता है और आत्मसात् हो जाता है।

श्री उमास्वाती भगवत ने 'प्रशमरति' प्रकरण मे धर्मध्यान को क्रमश चार चिंतन धाराए बताई हैं।

आज्ञाविचयमपायविचय च सद्ध्यानयोगमुपसृत्य ।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति सस्थानविचय च ॥२४७॥

---

१ धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलवणा वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा धम्मकहा।

२ धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ—अनित्यत्वाशरणत्वैकत्वसंसारानुप्रेक्षा ।श्री औपपातिक सूत्रे ।

१. आज्ञाविचय

[1]'आप्तपुरुष' का वचन ही प्रवचन हैं। यह है आज्ञा। उस आज्ञा के अर्थ का निर्णय करना विचय है।

२. अपायविचय

[2]मिथ्यात्वादि आश्रवों में, स्त्रीकथादि विकथाओ मे, रस-ऋद्धि-शाता गारवो में, क्रोधादि कषायो में, परीषहादि नही सहने में आत्मा की दुर्दशा है। नुकसान है। उसका चितन करके वैसा ही दृढ़ निर्णय हृदय में स्थापित करना।

३. विपाकविचय

[3]अशुभ और शुभ कर्मो के विपाक (परिणाम) का चिंतन करके 'पापकर्म से दुःख तथा पुण्यकर्म से सुख' ऐसा निर्णय हृदयस्थ करना।

४. संस्थानविचय

[4]षड्द्रव्य, ऊर्ध्व-अधो-मध्यलोक के क्षेत्र, चौदह राज लोक की आकृति वगैरह का चिंतन करके, विश्व की व्यवस्था का निर्णय करना, उसे संस्थानविचय कहते हैं।

---

१ आप्तवचन प्रवचनं चाज्ञा, विचयस्तदर्थनिर्णयनम्।
२ आस्रवविकथागौरवपरीषहाद्येष्वपायस्तु।
३ अशुभशुभकर्मविपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयः स्यात्।
४ द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्तु।

२४८-२४९ प्रशमरति प्रकरणे।

धर्मध्यानी

श्री आवश्यक सूत्र मे धमध्यान करने की इच्छुक आत्मा की योग्यता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है

'जिणसाहूगुणकित्तणपससणाविणयदाणसपण्णो ।
सुअसीलसजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥'

(१) श्री जिनेश्वरदेव के गुणो का कीर्तन और प्रशसा करने वाला ।

(२) श्री निर्ग्रन्थ मुनिजनो के गुणो का कीतन-प्रशसा करने वाला । उनका विनय करने वाला । उनका वस्त्र-आहारादि का दान देने वाला ।

(३) श्रुतज्ञान की प्राप्ति करने मे निरत । प्राप्त श्रुतज्ञान से आत्मा को भावित करने के लक्षवाला ।

(४) शील-सदाचार के पालन मे तत्पर ।

(५) इन्द्रियसयम, मन सयम करने मे लीन ।

ऐसी आत्मा धर्मध्यानी बन सकती है । श्री प्रशमरति ग्रथ मे बताया गया है कि वास्तविक धमध्यान प्राप्त हुए बाद ही आत्मा वैरागी बनती है । अर्थात् उस आत्मा मे वैराग्य की ज्योत प्रज्वलित होती है । 'धर्मध्यानमुपगतो वैराग्यमाप्नुयाद् योग्यम् ।'

वाचिक ध्यान

सामान्यत आम विचार ऐसा है कि 'ध्यान' मानसिक ही होता है । परन्तु श्री आवश्यक सूत्र में 'वाचिक ध्यान' भी बताया गया है ।

एवंविहा गिरा में वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा ।
इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइगं झाणं ॥

'मुझे इस प्रकार की वाणी बोलनी चाहिये, ऐसी नहीं बोलनी चाहिये। इस प्रकार विचारपूर्वक बोलनेवाला वक्ता 'वाचिक-ध्यानी' होता है।'

ध्यान-काल

ध्यान के लिए उचित काल भी वह है कि जिस समय मन-वचन-काया के योग स्वस्थ हों। ध्यानी के लिए दिवस-रात के समय का नियमन नहीं है।

'कालोऽपि स एव ध्यानोचितः यत्र काले मनोयोगादि-स्वास्थ्यं प्रधानं प्राप्नोति, नैव च दिवसनिशावेलादिनियमनं ध्यायिनो भणितम्'।

—श्री हरिभद्रसूरि। आवश्यक सूत्रे।

४. शुक्ल ध्यान

शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं। वे 'शुक्लध्यान के चार पाया' के रूप में प्रसिद्ध है।

१. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार

*पृथक्त्वसहित, वितर्कसहित और विचारसहित प्रथम सुनिर्मल शुक्लध्यान है। यह ध्यान मन-वचन-काया के योग वाले साधु को हो सकता है।

---

*सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वमुदाहृतं ।
त्रियोगयोगिनः साधोराद्यं शुक्लं सुनिर्मलम् ॥६०॥

×पृथक्त्व=अनेकत्वम्। ध्यान को फिरने की विविधता।

वितर्क=श्रुतचिन्ता। चौदपूर्वगत श्रुतज्ञान का चिंतन।

विचार= संक्रम। [1]परमाणु, आत्मा आदि पदार्थ, इनके [2]वाचक शब्द और [3]कायिकादियोग, इन तीन मे विचरण, संचरण, संक्रमण।

२ एकत्व वितर्क-अविचार

शुक्ल ध्यान के दूसरे प्रकार मे

- एकत्व
- अविचारता
- सवितर्कता होती है।

अर्थात् यहा स्वय के एक आत्मद्रव्य का अथवा पर्याय का या गुण का निश्चल ध्यान होता है। अर्थ शब्द और योगो मे विचरण नही होता है। और भावश्रुत के आलंबन मे शुद्ध-आत्मस्वरुप मे चिंतन होता रहता है।

×श्रुतचिन्ता वितर्कः स्याद् विचारः संक्रमो मतः।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवत्येतत्त्रयात्मकम् ॥६१॥

—गुणस्थान-क्रमारोह

इस ध्यान मे तीन विशिष्टता रही हुई हैं —

१ स्वशुद्ध आत्मानुभूति भावना से आलम्बन से अन्तर्जल्प चलता है।
२ श्रुतानुयोग एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर तथा एक योग से दूसरे योग पर विचार करता है।
३ ध्यान एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, एक गुण पर से दूसरे गुण पर, और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर संक्रमण करता है।

शुक्लध्यान के ये दो भेद आत्मा को उपशम श्रेणि या क्षपक श्रेणि में चढाने वाले है। अर्थात् मुख्यरूप से श्रेणि में होते है। दूसरे प्रकार के ध्यान के अंत में आत्मा वीतरागी बनती है। क्षपकश्रेणीवाली ध्यानी आत्मा ज्ञानावरणीयादि कर्मो को खपाकर केवलज्ञान प्राप्त करके सर्वज्ञ बनती है।

३. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति

यह ध्यान चिन्तनरूप नही है। सर्वज्ञ आत्मा को सब आत्म-प्रत्यक्ष होने से, उसे चिन्तनात्मक ध्यान की आवश्यकता रहती ही नही। इस तीसरे प्रकार में मन-वचन काया के बादर योगो का रुंधन होता है। सूक्ष्म मन-वचन-काया के योगो को रुंधने वाला एक मात्र सूक्ष्म काययोग बाकी रहता है। यह ध्यान आत्मा की विशिष्ट प्रकार की एक अवस्था है, और वह अप्रतिपाति तथा अविनाशी है। अर्थात् यह अवस्था अवश्य चौथे प्रकार के ध्यान रूप बन जाती है।

४. व्युच्छिन्न क्रिया-अनिवृत्ति

यहाँ समग्र योग हमेशा के लिए विराम प्राप्त कर गए होते है। विच्छेद प्राप्त कर गये होते है। इस अवस्था में अब कभी भी परिवर्तन नही होता। यह अवस्थाविशेष ही ध्यान है। 'शैलेशी अवस्था' इस ध्यानरूप है।

छद्मस्थ आत्मा का ध्यान

[1]मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है।

---

१ 'छद्मस्थस्य...ध्यानं मनसः स्थैर्यमुच्यते' ॥१०१॥

—गुणस्थानक क्रमारोहे।

अन्तर्मुहूर्तकाल, यच्चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि तच्छद्मस्थाना ध्यानम्।

श्री हरिभद्रसूरि, आवश्यक सूत्रे।

'अन्तमुहूर्त काल के लिए एक वस्तु में जो चित्त की एकावस्था, वह छद्मस्थ जीव का ध्यान है।

जिन का ध्यान

[1]योग निरोध, यह जिन का ध्यान है। दूसरे का नहीं।
[2]काया की स्थिरता, केवली का ध्यान है।

६. धर्म सन्यास-योगसंन्यास

'सामर्थ्य योग के ये दो भेद हैं। यह सामर्थ्ययोग क्षपक श्रेणि में होता है। यह योग प्रधान फल मोक्ष का निकटतम कारण है।

१ धर्मसन्यास

[*]क्षपक श्रेणि में जब जीव द्वितीय अपूर्वकरण करता है, तब तात्त्विक रूप में यह 'धर्मसन्यास' नाम का सामर्थ्य योग होता है। यहां क्षायोपशमिक क्षमा-आर्जव-मार्दवादि धर्मों से योगी निवृत्त हो जाता है।

१ योगनिरोधो जिनानामेव ध्यान नान्येषाम्।

—श्री हरिभद्रसूरि, आवश्यक सूत्रे

२ वपुष स्थय ध्यान केवलिनो भवेत् ॥१०२॥ —गुणस्थान क्रमारोह

* द्वितीयेऽपूर्वकरणे प्रथमो धर्मसन्यासस्तात्त्विक सामर्थ्ययोग तात्त्विक भवेत्। क्षपकश्रेणियामिति क्षायोपशमिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृत्तेः।

—योगदृष्टिसमुच्चये

+अतात्त्विक 'धर्मसन्यास' प्रव्रज्याकाल में (देशविरति-सर्व विरति ग्रहण करते हुए) भी होता है। वहां 'धर्म' औदयिक भाव समझने के है। इसका त्याग (संन्यास) करने में आता है। अर्थात् अज्ञान, असंयम, कषाय, वेद, मिथ्यात्वादि धर्मों का त्याग किया जाता है।

तात्त्विक 'धर्मसंन्यास' मे तो क्षायोपशमिक धर्मों का भी सन्यास (त्याग) कर दिया जाता है। अर्थात् वहां जीव को क्षायिक गुणों की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक धर्म ही क्षायिक रूप बन जाते है।

२. योगसंन्यास

'योग' का अर्थ कायादि के कार्य (कायोत्सर्गादि) हैं। इनका भी त्यागी (सन्यास) सयोग केवली भगवंत 'आयोजिकाकरण' किए बाद मे करते है।

×सयोगी केवली (१३ वे गुणस्थान पर) समुद्घात करने से पहले 'आयोजिकाकरण' करते है। यह आयोजिका सभी केवली भगवंत करते है।

७. समाधि

'वेदान्त दर्शन' के अनुसार समाधि दो प्रकार की है।
(१) सविकल्प समाधि, (२) निर्विकल्प समाधि ।

+'अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्याकालेऽपि भवति ।'

—योगदृष्टि समुच्चये

×पंच संग्रहे—क्षपकश्रेणि—प्रकरणे ।

[1]निर्विकल्प समाधि के आठ अंग बताने मे आये है। और इन आठ अंगो को ही सविकल्प समाधि कहा गया है। निर्विकल्प समाधि के [2]चार विघ्न 'वेदान्तसार' ग्रंथ मे बताये गये है।

श्री जैनदर्शन दोनो प्रकार की समाधि का सुचारु पद्धति से पाच योग द्वारा समन्वय करता है। श्री 'योगविंशिका' मे आचार्य श्री हरिभद्रसूरि जी ने यह समन्वय किया है और उपाध्याय जी ने उसे विशेष स्पष्ट किया है। यहाँ पाच योगो द्वारा सविकल्प, निर्विकल्प समाधि बताई गई है।

---

१ समाधि सविकल्पक निर्विकल्पकश्च। निर्विकल्पस्य अङ्गानि—

(१) यमा अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा।

(२) नियमा शौच-सतोष-तप,स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि।

(३) आसनानि करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीनि।

(४) प्राणायामा रेचकपूरककुम्भकलक्षणा प्राणनिग्रहोपाया।

(५) प्रत्याहार इन्द्रियाणा स्व-स्वविषयेभ्य प्रत्याहरणम्।

(६) धारणा अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणम्।

(७) ध्यान अद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य अन्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाह।

(८) समाधिस्तु उक्त सविकल्पक एव।

—वेदान्तसार ग्रन्थे

२ लय, २ विक्षेप, ३ कषाय, ४ रसास्वादश्चत्वारो विघ्ना।

—वे० सार०

× (१) स्थान : सकलशास्त्रप्रसिद्ध कायोत्सर्ग-पर्यंकबंध पद्मासनादि आसन।

(२) ऊर्ण : शब्द। क्रियादि में बोले जाने वाले वर्णस्वरूप।

(३) अर्थ : शब्दाभिधेय का व्यवसाय।

(४) आलंबन : बाह्य प्रतिमादि विषयक ध्यान।

उपरोक्त चार योग 'सविकल्पसमाधि' कहे जा सकते है।

(५) रहित : रुपी द्रव्य के आलंबन से रहित निर्विकल्प चिन्मात्र समाधिरुप।

यह योग निर्विकल्पक समाधि स्वरुप है।

पांच योग के अधिकारी

स्थानादियोग निश्चयनय से देशचारित्री एवं सर्वचारित्री को ही हो सकते हैं। क्रियारुप (स्थान-उर्ण) और ज्ञानरुप (अर्थ आलंबन और रहित) ये योग चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम विना संभव नहीं हो सकते।

'जो जीव देशचारित्री या सर्वचारित्री नही है, उन जीवों में योग का बीज मात्र हो सकता है।' किन्तु यह कथन निश्चय नय का है। व्यवहार नय तो योगबीज में भी योग का उपचार

× (१) स्थानम्-आसनविशेषरूप कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्मासनादि-सकलशास्त्रप्रसिद्धम्।

(२) ऊर्णःशब्दः स च क्रियादौ उच्चार्यमाणसूत्रवर्णलक्षणः।

(३) अर्थः—शब्दाभिधेयव्यवसायः।

(४) आलंबनम्—बाह्यप्रतिमादिविषयध्यानम्।

(५) रहितः रूपिद्रव्यालम्बनरहितो निर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूपः।

—योगविंशिकायाम्

करता है। इससे व्यवहार नय से अपुनबंधकादि जीव भी योग के अधिकारी हो सकते हैं।

८. पांच आचार

मोक्षमार्ग की आराधना के मुख्य पाच मार्गो को 'पचाचार' कहा जाता है। यहाँ 'श्री प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ के आधार पर उसका सक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

१. ज्ञानाचार,

१ काल —आगमग्रन्थो के अध्ययन के लिए शास्त्रकारो ने कालनिर्णय किया हैं, उस समय मे ही अध्ययन करना।

२ विनय —ज्ञानी, ज्ञान के साधन और ज्ञान का विनय करते हुए ज्ञानार्जन करना।

३ बहुमान —ज्ञान-ज्ञानी के प्रति चित्त मे प्रीति धारण करना।

४ उपधान —जिन जिन सूत्रों के अध्ययन हेतु शास्त्रकारो ने जो तप करने का विधान बताया है, वह तप करके ही शास्त्र का अध्ययन करना। उससे यथार्थरूप मे सूत्र की शीघ्र धारणा हो जाती है।

५ अनिह्नवन —अभिमानादिवश या स्वय की शका से श्रुतगुरु का या श्रुत का अपलाप नहीं करना।

६ व्यजन —अक्षर-शब्द-वाक्य का शुद्ध उच्चारण करना।

७. अर्थ :—अक्षरादि से अभिधेय का विचार करना ।

८. ऊभय :—व्यंजन–अर्थ में फेरफार किये विना तथा सम्यक् उपयोग रखकर पढ़ना ।

२. दर्शनाचार.

१. निःशंकित :—जिनवचन में संदेह न रखना ।

२. निकांक्षित :—अन्य अन्य मिथ्यादर्शनों की आकांक्षा नही करना ।

३. निर्विचिकित्सा :—'साधु मलीन है।' ऐसी जुगुप्सा नही करना ।

४. अमूढ़ता :—तपस्वी विद्यावंत कुतीर्थिक की ऋद्धि देखकर चलित नही होना ।

५ उपबृंहणा :—सार्धमिक जीवों की दान–शीलादि सद्गुणों की प्रशंसा करके, उनके सद्गुणो की वृद्धि करना ।

६. स्थिरीकरण :—धर्म में चलचित्त जीवों को हित मित पथ्य वचनों के द्वारा पुनः स्थिर करना ।

७. वात्सल्य :—सार्धमिकों की भोजनवस्त्रादि द्वारा भक्ति व सन्मान करना ।

८. प्रभावना :—धर्मकथा, वादीविजय, दुष्कर तपादि द्वारा जिनप्रवचन का उद्योत करना । (यद्यपि जिनप्रवचन स्वयं शाश्वत, जिनभाषित और सुरासुरों से नमस्कृत होने से उद्योतीत ही है, फिर भी स्वयं के दर्शन की निर्मलता हेतु, खुद के किसी विशेषगुण द्वारा लोगों को प्रवचन की ओर आकर्षित करना ।)

३. चारित्राचार

पाँच समिति [ईर्यासमिति, भाषासमिति, ऐषणासमिति आदानभंडमत्तनिक्षेपणासमिति और पारिष्ठापनिका समिति] तथा तीन गुप्ति [मनो गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति] द्वारा मन-वचन काया को भावित रखना।

४. तपाचार

अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, और संलीनता, इन छ बाह्य तप द्वारा आत्मा को तपाना। [यह छ प्रकार का तप बाह्य इसलिए कहा जाता है कि [१] बाह्य शरीर को तपाने वाला है। [२] बाह्य लोक मे तपरूप प्रसिद्ध है। [३] कुतीर्थिको ने स्वमत से सेवन किया है।]

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान इन छ प्रकार के आभ्यंतर तप से आत्मा को विशुद्ध करना।

५ वीर्याचार

उपरोक्त चार आचारो मे मन-वचन-काया का वीर्य [शक्ति] स्फुरित करके सुन्दर धर्मपुरुषार्थ करना।

इस प्रकार पंचाचार का निर्मल रूप से पालन करने वाली आत्मा, मोक्षमार्ग की तरफ प्रगति करती है और अन्त मे मोक्ष प्राप्त करती है।

६. * आयोजिका-करण
* समुद्घात
* योगनिरोध

'श्री पंचसंग्रह' ग्रंथ के आधार पर आयोजिका करण, समुद्घात तथा योगनिरोध का स्पष्टीकरण किया जाता है।

१. आयोजिका-करण

सयोगी केवली गुणस्थान पर यह करण किया जाता है। केवली की दृष्टिरूप मर्यादा से अत्यन्त प्रशस्त मन-वचन-काया के व्यापार को 'आयोजिका करण' कहा जाता है। यह ऐसा विशिष्ट व्यापार होता है कि जिसके बाद में समुद्घात तथा योगनिरोध की क्रियाएं होती है।

कुछ आचार्य इस करण को 'आवर्जितकरण' भी कहते हैं। अर्थात् तथाभव्यत्वरूप परिणाम द्वारा मोक्षगमन की ओर सन्मु हुई आत्मा का अत्यन्त प्रशस्त योगव्यापार।

कुछ दूसरे आचार्य उन्हें 'आवश्यककरण' कहते हैं। अर्थात् सब केवलियों को यह 'करण' करना आवश्यक होता है। समुद्घात की क्रिया सभी केवलियों के लिए आवश्यक नही होती।

२. समुद्घात

*केवली को वेदनीयादि अघाती कर्म विशेष हों और आयुष्य कम हो तब उन दोनों को बराबर करने के लिए

---

*चेदायुषः स्थितिर्न्यूना सकाशाद्वेद्यकर्मणः।
तदा तत्तुल्यतां कर्तुं समुद्घातं करोत्यसौ॥ —गुणस्थान क्रमारोहे

[वेदनीयादि कर्म आयुष्य के साथ ही भोगकर पूर्ण हो जावें उसके लिये] यह स   की क्रिया की जाती है।

प्रश्न बहुत काल तक भोगने में आ सके ऐसे वेदनीयादि कर्मों का एकदम नाश करने से 'कृतनाश' दोष नहीं आता ?
समाधान बहुत समय तक फल देने के हेतु निश्चित हुए वेदनीयादि कर्म, तथाप्रकार के विशुद्ध अध्यवसायरूप उपक्रम (कर्मक्षय के हेतु) द्वारा जल्दी से भोग लिया जाता है। उसमें 'कृतनाश' दोष नहीं आता। हां, कर्मों को भोगे बिना ही नाश करदे तब तो दोष आवें यहां ये कर्म जल्दी से भोगने में आ जाते हैं। कर्मों का भोग [अनुभव] दो प्रकार से होता है। [१] प्रदेशोदय द्वारा, [२] रसोदय द्वारा। प्रदेशोदय द्वारा सब कर्म भोगे जाते हैं। रसोदय द्वारा कोई भोगा जाता है और कोई नहीं भी भोगा जाता है। रसोदय द्वारा भोगने पर ही सब कर्मों का क्षय होता है, अगर ऐसा माना जाय, तो असंख्य भवों में, तथाप्रकार के विचित्र अध्यवसाय द्वारा नरकादि गतियों में जो कर्म उपार्जित किए हैं, उन सब का मनुष्यादि एक भव में ही अनुभव [भोग] नहीं हो सकता। क्योंकि जिस-जिस गति योग्य कर्म बांधे हों, उनका विपाकोदय उस गति में जाने पर ही होता है, तो फिर आत्मा का मोक्ष किस प्रकार हो ?

जब आयुष्य अन्तर्मुहूर्त बाकी हो, तब समुद्घात किया जाता है।

१-पहले समय में अपने शरीर प्रमाण और ऊर्ध्वअधोलोक प्रमाण अपने आत्मप्रदेशों का दंड कर।

दण्डं प्रथम समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये।
मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥२७४॥
—प्रशमरति प्रकरण

दूसरे समय में आत्मप्रदेशों को पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण में कपाट रूप बनावे।

तीसरे समय में रवैया [मन्थान] रूप बनावे।

चौथे समय में आंतराओं को पूरित करके सम्पूर्ण १४ राजलोक व्यापी बन जाय।

*पाँचवे समय में आँतराओं का सहरण कर ले।

छट्ठे समय में मन्थान का सहरण करले।

सातमे समय में कपाट का सहरण करले।

आठवे समय में दंड को भी समेट कर आत्मा शरीरस्थ बन जाय।

३. योग निरोध

समुद्‌घात से निवृत्त केवली भगवान् 'योगनिरोध' के मार्ग पर चलते है। योग [मन-वचन-काया] के निमित्त होने वाले बंध का नाश करने हेतु योगनिरोध करने में आता है। यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त काल में करने में आती है।

सब से पहले बादर काययोग के बल से बादर वचनयोग को रोधे, फिर बादर काययोग के आलम्बन से बादर मनोयोग को रोधे। उसके बाद उच्छ्‌वास-निश्वास को रोधे। तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोधे [कारण कि जहाँ तक बादर योग हो वहा तक सूक्ष्म योग रोधे नही जा सकते।]

उसके बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचनयोग को रोधे और पीछे के समय में सूक्ष्म मनोयोग को रोधे। उसके बाद के समय में काययोग को रोधे।

---

*संहरति पंचमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे।
सप्तमके तु कपाटं सहरति ततोऽष्टमे दण्डम्॥

—प्रशमरति प्रकरणे

सूक्ष्म काययोग को रोकने की क्रिया करती हुई आत्मा 'सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती' नाम के शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद पर आरूढ हो जाय, और १३ वें गुणस्थानक के चरम समय पर्यंत जाय।

सयोगीकेवली गुणस्थानक के चरम समय मे [१] सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती ध्यान [२] सर्व किट्टियाँ, [३] शाता का बंध [४] नाम गोत्र की उदीरणा, [५] शुक्ल लेश्या, [६] स्थिति रस का घात और [७] योग। इन सातो पदार्थों का एक साथ विनाश हो जाता है, और आत्मा अयोगी केवली बन जाती है।

१०. चौदह गुणस्थानक

आत्मगुणो की उत्तरोत्तर विकास-अवस्थाओ को 'गुणस्थानक' कहा जाता है। वे अवस्थाए चौदह है। चौदह अवस्थाओ के अंत मे आत्मा गुणो से परिपूर्ण बनती है, अर्थात् अनंतगुणमय आत्मस्वरूप प्रगट हो जाता है।

*गुणविकास की इन अवस्थाओ के नाम भी उस-उस अवस्था के अनुरूप रक्खे गए हैं। [१] मिथ्यात्व [२] सास्वादन [३] मिश्र [४] सम्यग्दर्शन [५] देशविरति [६] प्रमत्त श्रमण [७] अप्रमत्त श्रमण [८] अपूर्वकरण [९] अनिवृत्ति [१०] सूक्ष्मलोभ [११] शान्तमोह [१२] क्षीणमोह [१३] सयोगी [१४] अयोगी।

---

* गुणस्थानक्रमारोह प्रकरण श्लोक २-३-४-५

अब यहा एक-एक गुणस्थानक के स्वरूप का सक्षेप में विचार करते है।

१ मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक

तात्त्विक दृष्टि से जो परमात्मा नही; जो गुरु नही, जो धर्म नही, उसे परमात्मा-गुरु और धर्म मानना, वह मिथ्यात्व कहलाता है। परन्तु यह व्यक्त मिथ्यात्व कहलाता है। मोहरूप अनादि अव्यक्त मिथ्यात्व तो जीव में हमेशा रहता है, वास्तव में मिथ्यात्व यह गुण नही है, फिर भी 'गुणस्थानक' व्यक्त मिथ्यात्व की बुद्धि को अनुलक्षित करके कहा गया है। [1]'व्यक्तमिथ्यात्वधी-प्राप्तिर्गुणस्थानतयोच्यते।'

मिथ्यात्व का प्रभाव

मदिरा के नशे मे चकचूर मनुष्य जिस प्रकार हिताहित को नही जानता उसी प्रकार मिथ्यात्व से मोहित जीव धर्म को व अधर्म को नही समझता। विवेक नही कर सकता। धर्म को अधर्म तथा अधर्म को धर्म मान लेता है।

२. सास्वादन-गुणस्थानक

पहले 'औपशमिक' सम्यक्त्व प्राप्त किये बाद, अनतानुबधी कषायो में से कोई एक से फिसलता है परन्तु मिथ्यात्व दशा को प्राप्त करने में उसे कुछ देर लगती है। [एक समय से लेकर छ: आवलिका तक] वहाँ तक वह सास्वादन कहा जाता है।

---

[1] व्यक्त मिथ्यात्व की प्राप्ति को गुणस्थान कहा जाता है।

'सास्वादन' का प्रभाव

यहा अति अल्पकाल मे जीव औपशमिक सम्यक्त्व का रहा सहा आस्वादन करता है।

जिस प्रकार खीर का भोजन करने पर उल्टी हो जाय, किन्तु उसके वाद भी उसकी डकारें आती है, उसी तरह यहा औपशमिक समकित से भ्रष्ट होने पर भी, जहाँ तक मिथ्यात्व दशा को प्राप्त न करे वह तक औपशमिक सम्यक्त्व का आस्वादन रहता है।

३ मिश्र-गुणस्थानक

मिथ्यात्वदशा के वाद ऊपर चढते हुए दूसरी दशा मिश्र-गुणस्थानक की होती है। 'सास्वादन-गुणस्थानक' तो नीचे गिरते हुए जीव की एक अवस्था है। 'मिश्र' का अर्थ है सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनो का मिश्रण, यह मिश्र-अवस्था मात्र एक अन्तमुहूर्त काल तक रहती है। आत्मा की यह एक विलक्षण अवस्था है। यहा जीव मे धर्म-अधम दोनो पर समबुद्धि से श्रद्धा होती है। 'गुणस्थानक-क्रमारोह' प्रकरण मे कहा है—

तथा धर्मद्वये श्रद्धा जायते समवुद्धितः ।
मिश्रोऽसौ भण्यते तस्माद् भावो जात्यन्तरात्मकः॥१५॥

मिश्रदृष्टि का प्रभाव

यहा आत्मा अतत्त्व का या तत्त्व का पक्षपाती नही होता। इस अवस्था मे जीव परभव का आयुष्य नही बाधता है और मरता भी नही है।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक

स्वाभाविक रीति से या उपदेश से यथोक्त तत्त्वों मे जीव को रुचि हो, वह सम्यक्त्व कहलाता है ।

'यथोक्तेषु च तत्त्वेषु रुचिर्जीवस्य जायते ।
निसर्गादुपदेशाद्वा सम्यक्त्वं हि तदुच्यते ॥

—श्री रत्नशेखरसूरि

'सम्यक्त्व' की महत्ता बताते हुए उपाध्याय जी यशोविजय जी ने 'अध्यात्मसार' प्रकरण में कहा है :—

'कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्यते सारः सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ॥

'आँख में जैसे कीकी, पुष्प में जैसे सुगंध, उसी प्रकार सब धर्मकार्यों में 'सम्यक्त्व' सार है ।'

आत्मा की इस अवस्था में अनन्तानुबंधी कषायों का उदय होता नही है परन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है । उसके प्रभाव से आत्मा कोई व्रत-नियम नही ले सकती । किन्तु यथोक्त तत्त्वों की रुचि अवश्य होती है ।

सम्यक्त्व का प्रभाव

सम्यक्त्व का गुण आत्मा में प्रगट हुए बाद प्रशम, संवेग निर्वेद, अनुकपा और आस्तिक्य, ये पाच गुण आत्मा में प्रगट हो जाते है ।

कृपा-प्रशम-सवेग-निर्वेदास्तिक्य-लक्षणाः ।
गुणा भवन्ति यच्चित्ते, सस्यातसम्यक्त्वभूषितः ॥
श्री रत्नशेखरसूरि

यह समकिती आत्मा परमात्मा, सद्गुरु, और सघ की सद्भक्ति करता है तथा परमात्मशासन की उन्नति करता है, भले ही उसमे कोई व्रत-नियम न हो । कहा है

देवे गुरौ च सघे च सद्भक्ति शासनोन्नतिम् ।
अव्रतोऽपि करोत्येव स्थितस्तुर्ये गुणालये ॥

५ देशविरति-गुणस्थानक

※'सर्वविरति' गुण का आवारक प्रत्याख्यानावरण कषाया के उदय से यहा आत्मा, सर्व सावद्ययोग से किसी अश मे विराम पाती है । (देश=अशमे, विरति-विराम प्राप्त करना ।) अर्थात् पापव्यापारो का सवथा त्याग नही करती है परन्तु किसी अश मे त्याग करती है ।

देशविरति का प्रभाव

यहा आत्मा अनेक गुणो से युक्त हो जाती है । जिनेंद्र भक्ति, गुरु-उपासना, जीवो पर अनुकम्पा, सुपात्रदान, सत्शास्त्र-श्रवण, बारह व्रतो का पालन, +प्रतिमाधारण वगैरह

※सर्वविरतिरूप हि प्रत्याख्यानमावृण्वन्ति इति प्रत्याख्यानावरणा ।
—प्रवचनसारोद्धार

+श्रावक की ११ प्रतिमाओ का वर्णन देखो 'पचाशक जी' प्रकरण म ।

बाह्य तथा आभ्यतर धर्म-आराधना से आत्मा का जीवन शोभायमान होता है।

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थानक

यहां अनंतानुबंधी-अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय नही होता। यहां 'संज्वलन' कषायो का उदय होता है। उससे निद्रा-विकथादि प्रमादका प्रभाव आत्मा पर पडता है। इसलिये इस भूमिका में रही हुई आत्मा को 'प्रमत्त संयत' कहा जाता है।

श्री 'प्रवचन सारोद्धार' ग्रंथ में 'प्रमत्त सयत' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है :

'संयच्छति स्म-सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमति स्मेति संयतः। प्रमाद्यति स्म-मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः संज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतमप्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदति स्मेति प्रमत्तः, स चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतः।

सर्व सावद्ययोगों से जो विराम पाता है, उसे 'सयत' कहते हैं। मोहनीयादि कर्मों के उदय से तथा निद्रादि प्रमाद के योग से संयमयोगों में अतिचार लगावें, इसलिये उसे प्रमत्त कहते हैं।

सर्वविरति का प्रभाव

आत्मगुणों के विकास की यह एक उच्च भूमिका है। यहाँ आत्मा क्षमा-आर्जव-मार्दव-शौच-सयम-त्याग-सत्य-तप-

ब्रह्मचर्य-आकिंचन्य, इन दस यतिधर्मों का पालन करती है। अनित्यादि भावनाओं से आत्मा को भावित कर विषयकषायों को वश में रखती है। सब पापों का त्यागरूप पवित्र जीवन जीती है। कोई भी जीव को वह दुःख नहीं देती है।

७ अप्रमत्त संयत-गुणस्थानक

यहां संज्वलन कषायों का उदय मंद हो जाने से निद्रादि प्रमाद का प्रभाव रहता नहीं, इससे आत्मा अप्रमादी-अप्रमत्त, महाव्रती बन जाती है।

प्रमाद का नाश हो जाने से आत्मा व्रत-शील आदि गुणों से अलंकृत और ज्ञान-ध्यान की संपत्ति से शोभायमान बनती है।

८ अपूर्वकरण गुणस्थानक

अभिनव पांच पदार्थों के निर्वर्तन को 'अपूर्वकरण'[1] कहा जाता है। ये पांच पदार्थ इस प्रकार हैं-(१) स्थितिघात (२) रसघात (३) गुणश्रेणि (४) गुणसंक्रम और (५) अपूर्व स्थितिबंध।

१ स्थितिघात —ज्ञानावरणीयादि कर्मों की दीर्घ स्थिति का अपवर्तनाकरण से अल्पीकरण।

२ रसघात —कर्म-परमाणुओं में रही हुई स्निग्धता की प्रचुरता का अपवर्तना-करण से मंद करना।

---

१ अपूर्व-अभिनव कर्म-स्थितिघात-रसघात गुणश्रेणि-गुणसंक्रम-स्थितिबंधानां पंचानां पदार्थानां निर्वर्तनं यस्मिन्नसौ अपूर्वकरणम्।

—प्र० सारोद्धार

यह स्थितिघात और रसघात पहले के गुणस्थानों में भी जीव करता है। परन्तु वे गुणस्थानों में विशुद्धि अल्प होने से स्थितिघात तथा रसघात अल्प करता है। यहां विशुद्धि का प्रकर्ष होने से अति विशाल-अपूर्व करता है।

३. गुणश्रेणि:–ऐसे कर्मदलिको को कि जिसका क्षय दीर्घ काल मे होना है, उन कर्मदलिकों को अपवर्तनाकरण से विशुद्धि के प्रकर्ष द्वारा नीचे लावे, अर्थात् एक अंतर्मुहूर्त में उदयावलिका के ऊपर, जल्दी खपाने के लिये, प्रतिक्षण असंख्य गुणवृद्धि से वह दलिको की रचना करे।

४. गुणसंक्रम:—बंधती हुई शुभ-अशुभ कर्मप्रकृति में अबध्यमान शुभाशुभ कर्मदलिको को, प्रतिक्षण असंख्यगुण वृद्धि से डालना।

५. अपूर्व स्थितिबंध—अशुद्धिवश पहले कर्मो की दीर्घ स्थिति जीव बाँधता था, अब विशुद्धि द्वारा कर्मो की स्थिति पल्योपम के असंख्यात वे भाग में हीन-हीनतर-हीनतम बांधता है।

९. अनिवृत्ति बादरसंपराय-गुणस्थानक

एक समय में अर्थात् समान समय में इस गुणस्थानक पर आये हुए सभी जीवों के अध्ययवसायस्थान समान होते है। अर्थात् आत्मा की यह एक ऐसी अनुपम गुण-अवस्था है कि इस अवस्था मे रहे हुए सभी जीवों के चित्त की एक-समान स्थिति होती है। अध्यवसायों की समानता होती है। परन्तु इस अवस्था का काल मात्र एक अन्तर्मुहूर्त होता है। शब्द-व्युत्पत्ति इस प्रकार है:–बादर का मतलब स्थूल, संपराय का अर्थ कषायोदय, स्थूल कषायोदय निवृत्त नही हुआ हो, ऐसी

आत्मावस्था का नाम अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थानक है।

इस गुणस्थान पर प्रथम समय से आरंभ करके प्रति समय अनन्तगुण विशुद्ध अध्यवसायस्थान होते है, एक अन्तर्मुहूर्त में जितना समय हो उतने अध्यवसाय के स्थान इस गुणस्थान-प्राप्त जीवों के होते है।

इस गुणस्थान पर दो प्रकार के जीव होते हैं (१) क्षपक और (२) उपशमक।

१० सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक

सूक्ष्म लोभकषायोदय का यह गुणस्थानक है। अर्थात् यहां लोभ का उपशम हो अथवा क्षय कर दिया जाता है।

११. उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानक

संक्रमण-उद्वर्तना-अपवर्तना-वगैरह करण द्वारा कषायों को विपाकोदय-प्रदेशोदय दोनों के लिए अयोग्य बना दिया जाता है। अर्थात् कषायों का ऐसा उपशम कर दिया जाता है कि यहां न तो उनका विपाकोदय आता है और न प्रदेशोदय।

इस गुणस्थान पर जीव के राग और द्वेष ऐसे शान्त हो गए होते हैं कि वह वीतरागी कहलाता है। उपशान्तकषायी वीतराग होता है।

१२. क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ-गुणस्थानक

'क्षीणा कषाया यस्य स क्षीणकषाय'। आत्मा में घाति(?)कर्म में रहे हुए कषायों का यहां सर्वथा क्षय हो जाता है।

१३. सयोगी केवली-गुणस्थानक

'केवलं ज्ञानं दर्शनं च विद्यते यस्य सः केवली।' जिसे केवल-ज्ञान और केवल दर्शन हों वह केवली होता है।

'सह योगेन वर्तन्ते ते सयोगा-मनोवाक्कायाः ते यस्य विद्यन्ते सः सयोगी'। मन-वचन-काया के योगो से सहित हो वह सयोगी कहलाता है।

केवलज्ञानी को गमनागमन, निमेष-उन्मेषादि काय-योग होते है, देशनादि वचनयोग होता है। मनःपर्यवज्ञानी और अनुत्तर-देवलोकवासी देवो द्वारा मन से पूछे गये प्रश्नो का जवाब मन से देने रूप मनोयोग होता है।

इस सयोगी-केवली अवस्था का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोनपूर्वकोटि वर्ष होता है। जब एक अन्तर्मुहूर्त आयुष्य शेष रहता है तब वे 'योगनिरोध' करते हैं।

योगनिरोध किए बाद मे सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति नामका शुक्ल ध्यान ध्याते हुए शैलेशी मे प्रवेश करते हैं।

१४. अयोगी केवली-गुणस्थानक

शैलेशीकरण का काल (समय) पाँच ह्रस्वास्वर के उच्चारण काल जितना होता है और यही अयोगी-केवली गुण-स्थानक का काल है।

शैलेशीकरण के चरम समय के पश्चात् भगवंत उर्ध्वगति प्राप्त करते है। अर्थात् ऋजुश्रेणि से एक समय में ही लोकान्त में चले जाते है।

आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने का यह गुणस्थानक का यथावस्थित विकासक्रम है। अनत आत्माओ ने इस विकासक्रम से पूर्णता प्राप्त की है और अन्य जीव भी इसी विकासक्रम से पूर्णता प्राप्त करेगे।

११. नयविचार

+प्रमाण से परिच्छिन्न अनतधर्मात्मक वस्तु के एक अ श को ग्रहण करने वाले (दूसरे अ शो का प्रतिक्षेप किए बिना) अध्यवसाय विशेष को 'नय' कहा जाता है।

प्रत्येक पदार्थ अनत धर्मात्मक होता है। 'प्रमाण' इस पदार्थ को अनन्तधर्मात्मक सिद्ध करता है। जब कि 'नय' इस पदार्थ के अनत धर्मो मे से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है और सिद्ध करता है। परन्तु एक धर्म का ग्रहण करते हुए अर्थात् प्रतिपादन करते हुए दूसरे धर्मो का खण्डन नही करता।

'प्रमाण' और 'नय' मे यह भेद है। नय प्रमाण का एक देश (अ श)※ है। जिस तरह से समुद्र का एक देश-अ श समुद्र नही कहलाता उसी तरह असमुद्र भी नही कहलाता, इसी तरह नयो को प्रमाण नही कहा जा सकता तथा अप्रमाण भी नही कहा जा सकता।

+प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नया।

—जैनतर्कभाषायाम्

※यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं नाऽप्रमाणमिति।
—जैनतर्कभाषायाम्

❀ श्री 'आवश्यक सूत्र' की टीका में श्रीयुत मलयगिरिजी ने प्रतिपादन किया है कि 'जो नय नयान्तर सापेक्षता से 'स्यात्' पदयुक्त वस्तु को स्वीकार करता है, वह परमार्थ से परिपूर्ण वस्तु को स्वीकार करता है, इसलिये उसका 'प्रमाण' में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जो नयान्तरनिरपेक्षता से स्वाभिप्रेत धर्म के आग्रहपूर्वक वस्तु को ग्रहण करने का अभिप्राय धारण करता है वह 'नय' कहलाता है। क्योंकि वह वस्तु के एक देश का ग्रहण करता है।

'नय' की यह परिभाषा नयवाद को मिथ्यावाद सिद्ध करती है। सव्वेनया मिच्छावाइणो' इस आगम की उक्ति से सभी नयों का वाद मिथ्यावाद है।

नयान्तरनिरपेक्ष नय को महोपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज ने 'नयाभास' कहा है।

'श्री सम्मतितर्क' मे सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी नयों के मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का माध्यम इस प्रकार बताते हैः–

तम्हा सव्वे पि मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा॥२१॥

'स्वपक्षप्रतिबद्ध सभी नय मिथ्यादृष्टि है। अन्योन्य सापेक्ष सभी नय समकित दृष्टि हैं।'

❀इह यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नय.।
—आवश्यकसूत्र–टीकायाम्

दृष्टान्त द्वारा उपरोक्त कथन को समझाते हुए उन्होने कहा है —

जहऽनेयलक्खणगुणा वेरुलियाईमणी विसंजुत्ता ।
रयणावलिववएसं न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥२२॥

तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खनिरवेक्खा ।
सम्मद्दंसण सद्दं सव्वे वि णया ण पावंति ॥२३॥

'जिस प्रकार विविध लक्षणो से युक्त वैडूर्यादि मणि महान् कीमती होने पर भी, अलग—अलग हो वहा तक 'रत्नावलि' नाम प्राप्त नही कर सकती उसी तरह नय भी स्व-विषय का प्रतिपादन करने मे सुनिश्चित होने पर भी, जब तक अन्योन्यनिरपेक्ष प्रतिपादन करे वहा तक 'सम्यग्दर्शन' नाम प्राप्त कर नही सकते । अर्थात् सुनय नही कहलाते ।

द्रव्यार्थिकनय—पर्यायार्थिकनय

प्रत्येक वस्तु के मुख्यरूप से दो अ श होते हैं (१) द्रव्य और (२) पर्याय ।

वस्तु को जो द्रव्यरूप से ही जाने वह द्रव्यार्थिक नय और जो वस्तु को पर्यायरूप से ही जाने वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है । मुख्य तो ये दो ही नय हैं । नैगमादि नय इन दोनो के विकल्प हैं । भगवत तीर्थंकरदेव के वचनो के मुख्य प्रवक्ता रूप मे, ये दो नय प्रसिद्ध हैं ।

सम्मति तर्क' मे कहा है—

तित्थयरवयणसंगह विसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं ॥३॥

तीर्थंकर वचन के विषयभूत (अभिधेय भूत) द्रव्य-पर्याय है। उनका संग्रहादि नयों द्वारा जो विस्तार किया जाता है, उनके मूल वक्ता द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। नैगमादि नय उनके विकल्प है; भेद हैं।

द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयो के मन्तव्यो का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए 'सन्मति-तर्क' में कहाः—

उप्पज्जंति वियंति य भावा नियमेण पज्जवणयस्स।

दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥१॥

पर्यायार्थिक नय का मंतव्य है कि सर्व भाव उत्पन्न होते है और नाश होते है अर्थात् प्रतिक्षण भाव उत्पाद-विनाश स्वभाव वाले है। द्रव्यार्थिक नय कहता है कि सब वस्तुएं अनुत्पन्न-अविनिष्ट है। अर्थात् प्रत्येक भाव स्थिर स्वभाव-वाला है।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद है। (१) नैगम (२) संग्रह और (३) व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद है (१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरुढ (४) एवभूत।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ऋजु सूत्र नयको द्रव्यार्थिक नय का भेद कहते है।

नैगम

सामान्य-विशेषादि अनेक धर्मों को यह नय मान्यता देता। है अर्थात् 'सत्ता' लक्षण महासामान्य, अवान्तर सामान्य-

द्रव्यत्व गुणत्व-कर्मत्व वगैरह तथा समस्त विशेषों को यह नय मानता है।

'सामान्य विशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः'
—जैन तर्कभाषा

यह नय अपने मन्तव्य को पुष्ट करते हुए कहता है —

'यत्रयाऽवभासते तत्तथाऽभ्युपगन्तव्यम्, यथा नील नीलतया।'

जो जैसा दिखाई दे उसे वैसा मानना चाहिये। नीले को नीला तथा पीले को पीला।

धर्मी और धर्म को एकान्त रूप से भिन्न मानने पर यह नय मिथ्यादृष्टि है अर्थात् नैगमाभास है। न्याय दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन धर्मी-धर्म को एकान्त भिन्न मानते हैं।

संग्रह

'सामान्यप्रतिपादनपरः संग्रह नयः'

यह नय कहता है सामान्य ही एक तात्त्विक है, विशेष नहीं। अशेष विशेष का अपलाप करते हुए सामान्यरूप से ही समस्त विश्व को यह नय मानता है।

*एकान्त सत्ता-अद्वैत को स्वीकार कर, सकल विशेष का निरसन करने वाला संग्रहाभास है। इस प्रकार महोपाध्याय

---

* सत्ताद्वैत स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः।
—जैन तर्कभाषा

श्री यशोविजयजी महाराज कहते है। सभी अद्वैतवादी दर्शन और सांख्य दर्शन सत्ता-अद्वैत को ही मानते हैं।

व्यवहार

विशेषप्रतिपादनपरो व्यवहारनयः।

—श्रीमद् मलयगिरिः

सामान्य का निरास करते हुए विशेष को ही यह नय मानता है। 'सामान्य' अर्थक्रिया की सामर्थ्य से रहित होने के कारण सकल लोकव्यवहार के मार्ग में नही आ सकता। व्यवहार नय कहता है कि-'यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्'। वही परमार्थ-दृष्टि से सत् है कि जो अर्थक्रियाकारी है। सामान्य अर्थक्रियाकारी नही है अतएव वह सत् नही है।

यह नय लोकव्यवहार का अनुसरण करता है। जो लोग मानते हैं उसे यह नय मानता है। जैसे लोग भ्रमर को काला कहते है। वास्तव में भ्रमर पाच रंगों वाला होता है, फिर भी काला वर्ण स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है, इससे लोग भ्रमर को काला कहते हैं। व्यवहार नय भी भ्रमर को काला कहता है।

स्थूल लोकव्यवहार का अनुसरण करने वाला यह नय द्रव्य-पर्याय के विभाग को अपरमार्थिक मानता हैं, तब यह व्यवहाराभास कहलाता है। जबकि चार्वाक दर्शन इस व्यवहाराभास में से ही उत्पन्न हुआ है।

ऋजुसूत्र

प्रत्युत्पन्नग्राही ऋजुसूत्रो नयविधिः।

—आचार्य श्री मलयगिरिः

जो अतीत है वह विनष्ट होने से तथा जो अनागत है वह अनुत्पन्न होने से न तो वे दोनों अर्थक्रियासमर्थ है और न प्रमाण के विषय है। जो कुछ है वह वर्तमानकालीन वस्तु ही है। भले ही उस वर्तमानकालीन वस्तु के लिंग और वचन भिन्न हों।

जैसे अतीत-अनागत वस्तु नहीं है उसी तरह जो परकीय वस्तु है वह भी परमार्थ से असत है, क्योंकि वह अपने किसी प्रयोजन की नहीं।

ऋजुसूत्रनय निक्षेपों में नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव चारों निक्षेप मानता है।

मात्र वर्तमान पर्याय को माननेवाला और सर्वथा द्रव्य का अपलाप करने वाला 'ऋजुसूत्राभास' नय है। बौद्ध दर्शन ऋजुसूत्राभास में से प्रगट हुआ दर्शन है।

शब्द

इस नय का दूसरा नाम 'साम्प्रत' नय है। यह नय भी ऋजुसूत्र की तरह वर्तमानकालीन वस्तु को ही मानता है। अतीत, अनागत वस्तु को नहीं मानता। वर्तमानकालीन परकीय वस्तु को भी नहीं मानता।

निक्षेप में केवल भावनिक्षेप को ही मानता है। नाम-स्थापना और द्रव्य-इन तीनों निक्षेपों को मानता नहीं।

इसी तरह लिंग और वचन के भेद से वस्तु का भेद मानता है अर्थात् एक वचन वाच्य 'गुरु' अर्थ अलग और बहुवचन वाच्य 'गुरवः' अर्थ अलग। इसी तरह पुल्लिंग एवं नपुंसकलिंग से वाच्य नहीं और स्त्रीलिंग से भी वाच्य नहीं।

नपुंसकलिंग-अर्थ पुल्लिंग-वाच्य नहीं और स्त्रीलिंगवाच्य भी नहीं। ऐसा स्त्रीलिंग के लिए भी समझना।

यह नय अभिन्न लिंग-वचनवाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है। अर्थात् इन्द्र-शक्र-पुरन्दर-वगैरह शब्द जिनका कि लिंग-वचन समान है, उन शब्दों की एकार्थता मानता है। उनका अर्थ भिन्न-भिन्न नहीं मानता।

'शब्दाभिधाय्यर्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभासः।'

शब्दाभिधेय अर्थ का प्रतिक्षेप (अपलाप) करने वाला नय शब्दनयाभास कहलाता है।

समभिरूढ़

शब्दनय तथा समभिरुढ नय में एक भेद है। शब्द नय अभिन्न लिंग वचनवाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है, जब कि समभिरुढ़ नय पर्याय शब्दों की भिन्नार्थता मानता है। शब्द के व्युत्पत्ति-अर्थ को ही मानता है।

'पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढ़ः।'

—जैन तर्कभाषा

यह नय पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है। पर्याय शब्दों के अर्थ में रहे हुए अभेद की उपेक्षा करता है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर वगैरह शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न करता है। उदाहरणः इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दरः आदि।

+एकान्तत पर्याय-शब्दो के अर्थ मे रहे हुए अभेद की उपेक्षा करने वाला नय मिथ्यानय, नयाभास कहलाता है।

एवभूत

शब्दाना स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूत'।

—जैन तर्कभाषा

उस-उस शब्द के वह-वह व्युत्पत्ति-अर्थ मुजब क्रिया मे परिणत पदार्थ, उस-उस शब्द से वाच्य बनता है।

उदाहरण गौ [गाय] शब्द का प्रयोग उस समय ही सत्य कहा जा सकता है जब कि वह गमनक्रिया मे प्रवृत्त हो, क्योकि गौ शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है–'गच्छतीति गौ ।' गाय खडी हो कि बैठी हो, तब उसके लिये गौ [गाय] शब्द का प्रयोग नही हो सकता, ऐसा यह नय मानता है।

इस प्रकार यह नय क्रिया मे अप्रवृत्त वस्तु को शब्द से अवाच्य मानता होने से मिथ्यादृष्टि है।

'क्रियानाविष्ट वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन्नेवभूताभास'।'

—जैन तर्कभाषा

'क्रिया में अप्रवृत्त वस्तु शब्दवाच्य नही है, ऐसा कहने वाला यह नय 'एवभूताभास है'।

+पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाण समभिरूढाभास ।

—जैन तर्कभाषा

इस प्रकार सात नयों का स्वरुप संक्षेप से प्रस्तुत किया गया है। विशेष जिज्ञासावाले मनुष्य को गुरुगम से जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिये।

निश्चयनय–व्यवहारनय

'तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चयः।'

—जैन तर्कभाषा

निश्चयनय तात्त्विक अर्थ को स्वीकार करता है। 'भ्रमर' को यह नय पंचवण का मानता है। पाँच वर्ण के पुद्गलों से उसका शरीर वना हुआ होने से भ्रमर तात्विकदृष्टि से पंचवर्ण वाला है। अथवा तो निश्चयनय की परिभाषा इस प्रकार से भी की जाती है: 'सर्वनयमतार्थग्राही निश्चयः' सर्वनयों के अभिमत अर्थ को ग्रहण करने वाला निश्चय नय है।

प्रश्न :– सर्वनयअभिमत अर्थ को ग्रहण करते हुए वह प्रमाण कहलायेगा। तो फिर नयत्व का व्याघात नही होगा?

उत्तर:– निश्चय नय सर्वनय-अभिमत अर्थ को ग्रहण करता है, फिर भी, उन-उन नयों के अभिमत स्व-अर्थ की प्रधानता को स्वीकार करता है, इसलिये उसका अन्तर्भाव 'प्रमाण' में नही होता।

'लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहार नयः'

लोगों में प्रसिद्ध अर्थ का अनुसरण करने वाला व्यवहार नय ही है। जिस प्रकार लोगों में 'भ्रमर' काला कहा जाता है, तो व्यवहारनय भी भ्रमर को काला मानता है। अथवा

एकनयमत्यर्थग्राही व्यवहार ' कोई एक नय के अभिप्राय का अनुसरण करने वाला व्यवहारनय कहा जाता है।

ज्ञाननय–क्रियानय

'ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननया ।' मात्र ज्ञान की प्रधानता मानने वाला ज्ञाननय कहलाता है।

'क्रियामात्र-प्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानया ।' मात्र क्रिया की प्रधानता को स्वीकार करने वाला क्रियानय कहलाता है। ऋजुसूत्रादि चार नय चारित्ररूप क्रिया को ही प्रधानता मानते हैं, क्योंकि क्रिया ही मोक्ष के प्रति अव्यवहित कारण है। 'शैलेशी' क्रिया के बाद तुरन्त ही आत्मा सिद्धिगति को प्राप्त करती है।

नैगम-संग्रह और व्यवहार, ये तीनों नय यद्यपि ज्ञानादि तीनों को मोक्ष का कारण मानते हैं, परन्तु तीनों के समुदाय को नहीं, ज्ञानादि को भिन्न-भिन्न रूप से मोक्ष का कारण रूप स्वीकार करते हैं। ज्ञानादि तीनों से ही मोक्ष होता है, ऐसा नियम ये नय नहीं मानते। अगर ऐसा मानें तो ये नय, नय ही न रहें। नयत्व का व्याघात हो जाय।

यह ज्ञाननय क्रियानय का संक्षिप्त स्वरूप है।

१२ ज्ञपरिज्ञा-प्रत्याख्यानपरिज्ञा

सम्यग् आचार की पूर्व भूमिका में सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता निश्चितरूप से मानी गई है। सम्यग्ज्ञान के बिना आचार में पवित्रता, विशुद्धि और मार्गानुसारिता नहीं आ सकती।

'पापों को जानना और परिहरना' मनुष्य का–साधक मनुष्य का यह आदर्श, साधक को पापमुक्त बनाता है। इस आदर्श को श्री 'आचारांगसूत्र' में 'ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा' की परिभाषा में प्रस्तुत किया गया है। आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में ही चार प्रकार की 'परिज्ञा' बताई गई है। (१) नाम परिज्ञा (२) स्थापना परिज्ञा (३) ❀द्रव्य परिज्ञा (४) भाव परिज्ञा। उसमें द्रव्य तथा भाव परिज्ञा के दो दो भेद बताए गये है: ज्ञपरिज्ञा तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा।

× पृथ्विकायादि षट्‌काय के आरंभ समारंभ को कर्मबंध के हेतु रुप में जानना यह ज्ञपरिज्ञा और उन आरम्भ–समारभ का त्याग करना, उसका नाम प्रत्याख्यानपरिज्ञा है। मुनि इन दोनों परिज्ञाओं से सर्व पाप–आचारों को जाने और उनका त्याग करे।

भावपरिज्ञा का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए श्री शीलांकाचार्य जी ने कहा है–

भावपरिज्ञा :– 'आगम' से ज्ञपरिज्ञा का ज्ञाता और उसमें उपयोग वाला आत्मा स्वयम्। 'नो आगम' से ज्ञानक्रिया-

---

❀ दव्व जाणण पच्चक्खाणे दविए उवगरणे।
भावपरिण्णा जाणण पच्चक्खाणं च भावेण ॥३७॥

—आचारांग० प्र० अध्य० निर्युक्ति गाथा

× पृथिवीविषयाः कर्मसमारम्भाः खननकृष्याद्यात्मकाः कर्मबन्ध-हेतुत्वेन परिज्ञाता भवन्ति ज्ञपरिज्ञया तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति।

—आचारांग, प्र० अध्य० द्वि० उद्दे० सूत्र १८
शीलाङ्काचार्यटीकायाम

रूप यह अध्ययन अथवा ज्ञपरिज्ञा का ज्ञाता और अनुपयुक्त। प्रत्याख्यानपरिज्ञा भी इसी प्रकार समझनी। विशेष मे, नो आगम से प्राणातिपातनिवृत्तिरूप है और वह निवृत्ति त्रिविध-त्रिविध समझने की है।

१३. पञ्चास्तिकाय

पाँच द्रव्यो का विश्व है। विश्व का ज्ञान करने के लिए पाच द्रव्यो का ज्ञान करना पडता है। क्षविश्व = पाच द्रव्य।+

× 'द्रव्य' परिभाषा

१ 'सत्तालक्षणम् द्रव्यम्' सत्ता जिसका लक्षण है, उसे द्रव्य कहते है। यह परिभाषा द्रव्यार्थिकनय से करने मे आई है।

२ 'उत्पादव्ययध्रौव्यसयुक्त द्रव्यम' जो उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रुवता से सयुक्त हो वह द्रव्य कहलाता है। यह व्याख्या पर्यायार्थिक नय से करने मे आई है।

३ 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम' गुण-पर्याय का जो आधार है वह द्रव्य है। श्री तत्त्वार्थ सूत्र मे भी यह व्याख्या की गई है। (अध्याय ५, सूत्र ३७)

क्ष जगच्चेदन सकलधर्माधर्माकाशपुद्गलास्तिकायपरिग्रह ।
—श्री नन्दीसूत्रटीकायाम्

+ एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पञ्चद्रव्याणि च भवन्ति ।
—तत्त्वार्थ-भाष्ये, अ० ५

× दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥
—पञ्चास्तिकाये

प्रथम व्याख्या के आधार पर बौद्धदर्शन की मान्यता का खंडन हो जाता है। दूसरी व तीसरी व्याख्या के आधार पर सांख्य व नैयायिक दर्शन का निरसन हो जाता है।

अनादिनिधन त्रिकालावस्थायी द्रव्य की उत्पत्ति या विनाश होता नहीं। उत्पत्ति और विनाश द्रव्य की पर्यायें हैं। जैसे सोने के कड़े को तोड़ कर उसका हार बनाया जाता है, उसमें सोने का नाश होता नहीं, परन्तु सोने की जो कड़े के रूप में पर्याय (अवस्था) है, उसका नाश हो जाता है। उसी तरह सोने की उत्पत्ति होती नहीं परन्तु हाररूप पर्याय उत्पन्न हो जाती है। सोना (द्रव्य) तो कायम रहता है।

+ पर्याय से भिन्न पदार्थ नहीं और द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं। दोनों अनन्यभूत है। अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति-विनाश द्रव्य की उत्पत्ति और द्रव्य का नाश कहा जाता है।

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय	❀ पंचास्तिकाय

+ दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥१२॥
—सम्मति-तर्क

तुलना—पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जवा णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥
—पंचास्तिकाय-प्रकरणे

❀ पंचास्तिकाया धर्माऽधर्माऽऽकाश-पुद्गलजीवाख्या.।
—तत्वार्थ-टीकायां सिद्धसेनगणि।

+ 'अस्ति' अर्थात् प्रदेश और 'काय' यानि समूह=अस्तिकाय।

१ धर्मास्तिकाय

स्वरूप

धर्मास्तिकाय रस, वर्ण, गध, शब्द और स्पर्श रहित है। अत वह अमूर्त है। नित्य है। अवस्थित है। अरूपी है। निष्क्रिय है। असख्यप्रदेशात्मक है। लोकाकाश-व्यापी है। अनादि-अनत रूप से विस्तीर्ण है। धर्मास्तिकाय के प्रदेश सातर नही परन्तु निरन्तर हैं।

> धम्मत्थिकायरस अरण्णगव श्रमद्दमप्फास।
> लोगागाढ पुट्ठ पिहुलमसखादियपदेस ॥८३॥
>
> —पचास्तिकाये

कार्य

× गतिपरिणत जीव-पुद्गलो की गति मे सहकारी कारण है। जिस प्रकार सरोवर, सरिता, समुद्र मे रहे हुए मत्स्यादि जलचर जतुओ के चलने मे जल निमित्तकारण बनता है। जलद्रव्य गति मे सहायक है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि मत्स्य को वह बलपूर्वक गति कराता है।

सिद्ध भगवत उदासीन होने पर भी सिद्धगुण के अनुराग मे परिणत भव्य जीवो की सिद्धि मे सहकारी कारण बनते है उसी तरह धर्मास्तिकाय भी स्वय उदासीन होने पर

+ अस्तय =प्रदेशा तथा काय =सघात अस्तिकाय

—अनुयोगद्वार सूत्रे, हेमचन्द्रसूरि

× उदय जह मच्छाण गमणाणुग्गहयर हवदि लोए।
तह जीव पुग्गलाण धम्म दव्व वियाणाहि ॥८५॥ —पञ्चास्तिकाय

भी गतिपरिणत जीव-पुद्गल की गति में सहकारीकारण बनता है।

जिस प्रकार पानी स्वयं गति किये बिना, जाने वाले मत्स्यों की गति में सहकारी कारण बनता है, उसी तरह धर्मास्तिकाय स्वयं गति किए बिना जीव-पुद्गलों की गति में सहकारी कारण बनता है।

अधर्मास्तिकाय

+ जैसा स्वरूप धर्मास्तिकाय का है वैसा ही स्वरूप अधर्मास्तिकाय का है। कार्य में भेद है। जीव-पुद्गलों की स्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक है। जिस प्रकार छाया पथिकों की स्थिरता में सहायक बनती है। अथवा जिस प्रकार पृथ्वी स्वयं स्थिर रही हुई अश्व-मनुष्यादि की स्थिरता में बाह्य सहकारी हेतु बनती है। जीव-पुद्गलों की स्थिति का उपादानकारण तो स्वकीय स्वरूप ही है। अधर्मास्तिकाय व्यवहार में निमित्तकारण है।

आकाशास्तिकाय

❀ लोकालोकव्यापी अनन्त प्रदेशात्मक अमूर्तद्रव्य है। × आकाशास्तिकाय से व्यतिरिक्त द्रव्यमात्र लोकाकाश-

---

\+ जह हवदि धम्मदव्व तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूद तु पुढवीव ॥
—पञ्चास्तिकाये

❀ लोकालोकव्याप्यनन्तप्रदेशात्मकोऽमूर्तद्रव्यविशेष.।
—अनुयोगद्वारटीका

× जीवा पुग्गलकायाधम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयास अंतवदिरित्तं ॥९१॥
—पचास्तिकाये

व्यापी ही है। जब कि आकाशास्तिकाय लोक-अलोक दोनो मे व्याप्त है।

धर्मास्तिकायादि चार अस्तिकायों को आकाश अवकाश देता है। अर्थात् धर्मास्तिकायादि चार अस्तिकाय लोकाकाश को अवगाहित करके रहे हुए हैं।

'अवगाहिना धर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकार ।'
—तत्त्वार्थभाष्य, अ ५ सू १८

४ जीवास्तिकाय

जो जीता है, जियेगा और जिया है वह जीव कहलाता है। 'जीवति जीविष्यन्ति, जीवितवन्त इति जीवा '। ससारी जीव दस प्राणों से जीता है, जिएगा और जिया है। पाच इद्रिय, मन-वचन और काया, आयुष्य और उच्छ्वास, ये दस प्राण हैं। प्रत्येक जीव असख्यप्रदेशात्मक होता है। स्वदेहव्यापी होता है। अरुपी और अमूर्त होता है। अनुत्पन्न तथा अविनाशी होता है।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' (तत्वार्थ, अ० ५, सू० २१) अन्योन्य उपकार करना यह जीवों का कार्य है। हित के प्रतिपादन द्वारा और अहित के निषेध द्वारा जीव एक दूसरे पर उपकार कर सकते हैं। पुद्गल नही कर सकते।

जीव का अतरग लक्षण है —उपयोग। 'उपयोगलक्षणो जीव ।'

५ पुद्गलास्तिकाय

जिसका पूरण-गलन स्वभाव हो वह पुद्गल है। अर्थात् जिसमे हानि-वृद्धि हो, उसे पुद्गल कहा जाता है। वे पुद्गल

परमाणु से लगाकर अनन्ताणुक स्कंध तक होते हैं। +पुद्गल के चार भेद हैं। स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु। पुद्गल रूपी है। जिसमें स्पर्श–रस–गंध और वर्ण हो वह पुद्गल कहलाता है। 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गला' (तत्त्वार्थ, अ० ५. सू० २३) पंचास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी ने पुद्गल को पहिचानने की रीति बताते हुए कहा :—

उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥८२॥

'इन्द्रियो के उपभोग्य विषय, पाँच इन्द्रिया, औदारिकादि पाँच शरीर, मन और आठ प्रकार के ज्ञानावरणीयादि कर्म, जो कुछ भी मूर्त हैं, वह सब पुद्गल समझना'। श्री 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है.—

पञ्चविधानि शरीराण्यौदारिकादीनि वाङ्मन प्राणापानाविति पुद्गलानामुपकारः।

—स्वोपज्ञ-भाष्ये, अ० ५, सू० १९

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण—ये पाच शरीर, वाणी मन और श्वासोच्छ्वास, पुद्गलो का उपकार है, अर्थात् ये पुद्गलनिर्मित है।

इस प्रकार पचास्तिकाय का स्वरूप और उसका कार्य संक्षेप में बताकर अब पचास्तिकाय की सिद्धि की जाती है।

+ खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणु।
इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥७४॥

—पंचास्तिकाय-प्रकरणे

❀धर्मास्तिकाय—अधर्मास्तिकाय विना जीव और पुद्गलो की गति तथा स्थिति नही हो सकती। अगर धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाय विना भी जीव–पुद्गल की गति–स्थिति हा सके तो लोक की तरह अलोक मे भी जीव–पुद्गल जाने चाहिये। अलोक अनत हैं। इससे लोक मे से निकलकर जीव-पुद्गल अलोक मे चले जायें और इस प्रकार लोक जीव-शून्य तथा पुद्गलशून्य वन जाय। न तो ऐसा कभी देखा जाता है और न ऐसा ईष्ट है। इसलिये जीव पुद्गल की गति–स्थिति की उपपत्ति हेतु धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध होता है।

❀जीवादि पदार्थो का आधार कौन? अगर आकास्तिकाय को नही मानने मे आता है तो जीवादि पदार्थ निराधार बन जायेंगे। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय जीवादि के आधार नही वन सकते। वे दोनो तो जीव-पुद्गल की गति-स्थिति के नियामक है। और दूसरे से साध्य काय तीसरा नही कर सकता। अत जीवादिको के आधार रूप मे आकाशास्तिकाय की सिद्धि होती है।

❀ प्रत्येक प्राणी मे ज्ञानगुण स्वसवेदनसिद्ध है। गुणी के सिवाय गुण का अस्तित्व नही घट सकता।

प्र० स्वसवेदनसिद्ध ज्ञानगुण का गुणी शरीर को मानो तो?

उ० गुण के अनुरूप गुणी होना चाहिये। ज्ञान गुण अमूर्त और चिद्रूप है। सदैव इन्द्रियविषयातीत है। गुणी भी उसके अनुरूप होना चाहिये। वह जीव है, देह नह। जो अनुरूप न हो, अगर उसे भी गुणी माना जाय तो

अनवस्था दोष आता है, तो फिर रूप-रसादि गुणों के गुणी रूप में आकाश को भी मान लेना चाहिये।

❀ घट......पटादि कार्यों से पुद्गलास्तिकाय का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष ही है।

१४. कर्मस्वरूप

अनादिअनंत काल से जीव कर्मों से बंधा हुआ है। जीव और कर्म का संबंध अनादि है। इससे जीव में अज्ञान मोह, इन्द्रियविकलता, कृपणता, दुर्बलता, चार गतियो मे परिभ्रमण, उच्च-नीचता, शरीरधारिता वगैरह अनंत प्रकार की विचित्रता दृष्टिगोचर होती है।

प्रत्येक जीव के कर्म अलग अलग होते है। अपने कर्म के अनुसार जीव सुख-दुःख और दूसरी विचित्रताओ का अनुभव करते है। जीवों के बीच ज्ञान, शरीर, बुद्धि, आयुष्य वैभव, यश-कीर्ति वग़ैरह सैकड़ों बातों की विषमता का कारण कर्म है। कर्म कोई काल्पनिक वस्तु नही, परन्तु यथार्थ पदार्थ है और उसका पुद्गलास्तिकाय में एक द्रव्यरूप में समावेश है।

× कर्म के मुख्य आठ भेद है। श्री प्रशमरतिप्रकरण में कहा है :

स ज्ञानदर्शनावरणवेद्य-मोहायुषांतथा नाम्नः।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौलः ॥३४॥

× आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः।
तत्वार्थ अ० ८, सूत्र ५

नाम	* अवान्तर-भेद
१-ज्ञानावरणीय	५
२-दर्शनावरणीय	६
३-वेदनीय	२
४-मोहनीय	२८
५-आयुष्य	४
६-नाम	४२
७-गोत्र	२
८-अंतराय	५
	९७

प्रत्येक कर्म का आत्मा पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है।

आत्मगुण	आवरण	प्रभाव
अनन्त केवलज्ञान	ज्ञानावरण	अज्ञानता
अनन्त दर्शन	दर्शनावरण	अधापन, निद्रा आदि
अनन्त सुख	वेदनीय	सुख-दु ख
क्षायिक चारित्र	मोहनीय	क्रोधादि, हास्यादि पुरुषवेदादि, मिथ्यात्व
अक्षय स्थिति	आयुष्य	चारगति मे भ्रमण
अमूर्तता	नाम	शरीर यश, अपयशादि तीर्थ करत्वादि
अगुरुलघुता	गोत्र	उच्च-नीचता
अनन्तवीर्य	अंतराय	कृपणता, दुर्बलता वगैरह

* पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिश्चतु षट्कसप्तगुणभेदा ।
द्विपञ्चभेद इति सप्तनवति भेदास्तथोत्तरत ॥३५॥

प्रशमरतिप्रकरणे

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिद्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।

तत्त्वार्थ अ० ८, सूत्र ६

कर्मबंध

❀ ज्ञानावरणीयादि कर्म पुद्‌गलों से आत्मा का जो बंध अर्थात् परतन्त्रता प्राप्त करना उसे 'बंध' कहते हैं। कर्मबंध पुद्‌गल-परिणाम है। आत्मा का एक-एक प्रदेश अनंत-अनंत पुद्‌गलों से बंधा हुआ है। अर्थात् आत्मप्रदेश और कर्मपुद्‌गल अन्योन्य ऐसे मिल गये है कि दोनों का एकत्व हो गया है। जिस प्रकार से क्षीर और नीर का एकत्व हो जाता है। ये कर्मबंध चार प्रकार से होता है — (१) प्रकृतिबंध (२) स्थितिबंध (३) अनुभागबंध (४) प्रदेशबंध।

(१) कर्म पुद्‌गलों को ग्रहण करना, कर्म और आत्मा की एकता 'प्रकृति बंध' कहलाती है: 'पुद्‌गलादान प्रकृति-बन्धः कर्मात्मनोरैक्यलक्षणः।' (तत्त्वार्थटीकायाम्)

+ (२) कर्मपुद्‌गलो का आत्मप्रदेशों में अवस्थान वह स्थिति। अर्थात् कर्मों का आत्मा में अवस्थानकाल का निर्णय होना वह 'स्थितिबंध' कहलाता है। 'कर्मपुद्‌गलराशेः कर्त्रा परिगृहीतस्यात्मप्रदेशेष्ववस्थानं स्थितिः। (तत्त्वार्थ-टीकायाम्)

❀ 'बध्यते वा येनात्मा-अस्वातन्त्र्यमापाद्यते ज्ञानावरणादिना स बन्धः पुद्‌गलपरिणाम।' —तत्त्वार्थ-टीकाया, श्री सिद्धसेनगणिः

× 'प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः।'

तत्त्वार्थ, अ. ८, सूत्रः—४

+ इति कर्मणः प्रकृतयो मूलाश्च तथोत्तराश्च निर्दिष्टाः।
तासां यः स्थितिकालनिबन्धः स्थितिबन्धः उक्तः सः॥

—तत्त्वार्थ-टीकायाम्

(३) शुभाशुभ वेदनीयकर्मबंध के समय ही रसविशेष बंधाता है। उनका विपाक नामकर्म के गत्यादि स्थानो मे रहा हुआ जीव अनुभव करता है।

(४) कर्मस्कंधो को आत्मा के सर्व प्रदेशो से योग-विशेष से (मन-वचन-काया) ग्रहण करना, वह प्रदेशबंध होता है। 'तस्य कर्तु स्वप्रदेशेषु कर्मपुद्गलद्रव्यपरिमाण-निरूपण प्रदेशबंध ।' (तत्त्वार्थ-टीकायाम्)

इस प्रकार संक्षेप मे कर्म का स्वरूप और कर्मबंध का स्वरूप बताया गया। विशेष जिज्ञासु को 'कर्मग्रंथ' 'कर्म प्रकृति,' तत्त्वार्थ सूत्र,' आदि ग्रंथो का अवलोकन करना चाहिए।

१५. जिनकल्प-स्थविरकल्प

श्री 'बृहत्कल्पसूत्र' आदि ग्रंथो मे विस्तार से जिन-कल्प तथा स्थविरकल्प का वर्णन देखने मे आता है।

ये दोनो कल्प (आचार) साधु-पुरुषो के लिये हैं। गृहस्थो के लिये नही। दोनो कल्पो का प्रतिपादन श्री तीर्थंकर परमात्मा ने किया है। अर्थात् जिनकल्प का साधु जीवन और स्थविरकल्प का साधु जीवन दोनो प्रकार के जीवन परमात्मा महावीरदेव ने बताए हैं। दोनो प्रकार के जीवन से मोक्षमार्ग की आराधना हो सकती है। दोनो जीवो के बीच का अंतर मुख्यतया एक है। जिनकल्प का साधु जीवन मात्र उत्सर्गमार्ग का अवलंबन लेता है। स्थविर कल्प का साधु जीवन उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग दोनो

का अवलम्बन लेता है। अर्थात् जिनकल्पी मुनि अपवाद मार्ग का अनुसरण नहीं करते। स्थविरकल्पी मुनि अनुसरण करते हैं। अपवादमार्ग का अनुसरण करने वाले मुनि भी आराधक हैं। तात्पर्य यह कि मोक्षमार्ग की आराधना के लिए मुख्यरूप से ये दो प्रकार के ही जीवन हैं।

प्रस्तुत में जिनकल्प का स्वरूप 'श्री बृहत्कल्प सूत्र' ग्रंथ के आधार पर दिया जाता है:

जिनकल्प-स्वीकार की पूर्व तैयारी

जिनकल्प स्वीकार करने वाला मुनि अपनी आत्मा को इस प्रकार तैयार करे। तैयारी में पांच प्रकार की भावनाओं से आत्मा को भावित करे।

(१) तपो भावना
(२) सत्त्व भावना
(३) सूत्र भावना
(४) कत्व भावना
(५) बल भावना

तप भावना

❀ धारण किया हुआ तप जहां तक स्वभावभूत न हो जाय वहां तक उसका अभ्यास न छोड़े।

❀ एक-एक तप वहा तक करे कि जिससे विहित अनुष्ठान की हानि न हो।

❀शुद्ध प्रासुक आहार नहीं मिले तो छः महीने तक भूखा रहे, परन्तु दोषित आहार न ले।

ॐ इस प्रकार तप से वह अल्पाहारी वने, इन्द्रिय स्पर्शादिविपयो मे से दूर रहे, मधुर आहार मे नि सग वने। इन्द्रियविजेता वने।

सत्त्व भावना

इस भावना मे मुनि 'पाँच प्रतिमाओ' का पालन करे।

ॐ जनशून्य मलिन तथा अधकारपूर्ण उपाश्रय मे निन्द्रा का त्याग कर कायोत्सर्ग ध्यान मे खडा रहकर भय को जीतकर निभय वने। उपाश्रय मे फिरते हुए चूहे, विल्ली आदि द्वारा होने वाले उपसर्गों से भय प्राप्त न करे। भाग न जाय।

ॐ उपाश्रय के वाहर रात्रि के समय कायोत्सर्गध्यान मे खडा रह कर, चूहे, विल्ली, कुत्ते तथा चोरादि के भय को जीते।

ॐ जहा चार मार्ग मिलते हो, वहाँ जाकर रात्रि के समय ध्यान मे रहे। पशु, चोरादि के भय को जीते।

ॐ खण्डहर शून्यघर मे जाकर रात्रि के समय ध्यान मे स्थिर रह कर उपद्रवो से डरे नही और निभय रहे।

ॐ श्मशान मे जाकर कायोत्सर्गध्यान मे खडा रहे और सविशेप भयो को जीते।

इस प्रकार सत्त्व भावना से अभ्यस्त होने से दिन में या रात मे, देव-दानव से भी नही डरे और जिनकल्प को निभयता मे वहन करे।

सूत्र भावना

काल का प्रमाण जानने के लिये वह ऐसा श्रुताभ्यास करे कि खुद के नाम जैसा अभ्यास हो जाय। सूत्रार्थ के परिशीलन द्वारा, वह अन्य संयमानुष्ठानों का प्रारंभकाल तथा समाप्तिकाल को जान ले। दिन और रात के समय को जान ले। कब कौनसी प्रहर घड़ी चल रही है, वह जान ले। आवश्यक, भिक्षा, विहार ..... वगैरह छाया नापे बिना जान ले।

सूत्र भावना से चित्त की एकाग्रता महान् निर्जरा वगैरह अनेक गुणों को वह सिद्ध करता है।

'सुयभावणाए नाणं दंसणं तवसंजमं च परिणमइ'

—बृहत्कल्प० गाथा १३४४

एकत्व भावना

संसारवास का ममत्व तो मुनि पहले ही छोड़ देता है, परन्तु साधुजीवन में आचार्यादि का ममत्व हो जाता है। अत. जिनकल्प की तैयारी करने वाला महात्मा आचार्यादि के साथ भी सस्निग्ध अवलोकन, आलाप, परस्पर गोचरी-पाणी का आदान-प्रदान, सूत्रार्थ के लिये प्रतिपृच्छा, हास्य, वार्तालाप वगैरह त्याग दे। आहार, उपधि और शरीर का ममत्व भी न करे। इस प्रकार एकत्वभावना द्वारा ऐसा निर्मोही बन जाय कि जिनकल्प स्वीकार किये बाद स्वजन का वध होता हुआ देखकर भी क्षोभ प्राप्त न करें।

बल भावना

० मनोबल से स्नेहजनित राग और गुणबहुमान जनित राग, दोनों को त्याग दे।

० धृति बलसे आत्मा को सम्यग्भावित करे।

इस प्रकार महान् सात्त्विक धैर्यसपन्न औत्सुक्य-रहित, निष्प्रकपित बनकर परिषह – उपसर्ग को जीतकर वह अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करता है। 'सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्' सब सिद्धि, सत्त्व से मिलती है।

इस प्रकार पाच भावनाओ से आत्मा को भावित करके जिनकल्पिक समान बनकर गच्छ मे ही रहते हुए द्विविध परिकर्म करे।

१. आहार परिकर्म

२. उपधि परिकर्म

+ सात पिण्डैषणा मे से पहेली दो के सिवाय बाकी की पाच पिण्डैषणा मे भिक्षा ग्रहण करे। उसमे भी विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करे। अनेपकृत आहार ग्रहण करे, अतप्रान्त और रूक्ष आहार ग्रहण करे।

उपधि परिकर्म मे वस्त्र और पात्र की चार प्रतिमाओ में से प्रथम दो त्याग दे और अतिम दो ग्रहण करे।

'उत्कुटुक' आसन का अभ्यास करे, क्योकि जिनकल्प में 'औपग्रहिक' उपधि रखने मे नही आती, उससे बैठने के लिए आसन होता नही और साधु आसन बिछाये बिना

+ सात पिण्डैषणा

असंसट्ठा ससट्ठा उद्धडा, अप्पलेवा, उग्गहिया, पग्गहिया उज्झियधम्मेति।

—आचाराग सूत्रे, २श्रुतस्कधे

सीधा भूमि परिभोग नही कर सकता, इनमे 'उत्कुट्टुक' (उभडक) आसन से ही जिनकल्पिक रहे । अत. इसका अभ्यास पहले कर लेना चाहिये ।

जिनकल्पस्वीकार

❀प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव देखकर, संघ को इकट्ठा कर (अगर वहां सघ न हो तो खुद के स्व-गण के साधुओ को इकट्ठा कर) क्षमापना करे । परमात्मा जिनेश्वर देव के सान्निध्य में अथवा तीर्थंकर न हो तो गणधर के सान्निध्य में क्षमापना करे ।

जइ कि चि पमाएणं न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्वि ।
तं भे खामेमि अह निस्सल्लो निक्कसाओ अ ॥

'निशल्य और निष्कपाय बनकर मैं, पूर्व के प्रमाद से जो कोई तुम्हारे प्रति दुष्ट किया हो, उसकी क्षमा माँगता हूँ ।'

अन्य साधुओ आनन्दाश्रु वहाते हुए भूमि पर मस्तक लगाकर क्षमापना करे ।

❀ साधु को दस प्रकार की समाचारी में से जिनकल्पी को (१) आवश्यिकी (२) नैषेधिकी (३) मिथ्याकार (४) आपृच्छा और (५) गृहस्थविषयक उपसपत्, ये पाँच प्रकार की समाचारी ही होती है ।

❀ जिनकल्प स्वीकार करने वाले साधु को नवमें पूर्व की तीसरी वस्तु तक का ज्ञान तो अवश्य होना ही चाहिए । उत्कृष्ट कुछ न्यून दस पूर्व ।

※ पहला संघयण (वज्रऋषभनाराच) होना चाहिये।

※ उपसर्ग बिना दीनता के सहन करे।

※ अगर रोग-आतंक पैदा हो तो उसको सहन करे। औषधादि चिकित्सा न करावे।

※ लोच, आतापना, तपश्चर्या वगैरह की वेदना सहन करे।

※ जिनकल्पी अकेले ही रहे और विचरे।

※ 'अनापात-असंलोक' स्थंडिल भूमि पर मलोत्सर्ग करे। जल से शुद्धि न करे। जलशुद्धि की जरूरत ही नहीं पड़ती है। मल से बाह्य भाग लिप्त ही नहीं होता।

※ जिस स्थान मे रहे, वहां चूहे वगैरह का बिल हो तो बंद न करे। रात्रि-स्थान या स्थाने हुए पशुओं को न रोके। द्वार के किवाड बंद न करे। सांकल नहीं लगावे।

※ स्थान (उपाश्रयादि) का मालिक अगर किसी प्रकार की शर्त करके उनको के लिये स्थान देता हो तो उस स्थान में नहीं रहे। किसी को सूक्ष्म अप्रीति भी हो जाय तो उस स्थान का त्याग कर दें।

※ जिस स्थान पर बलि चढ़ती हो, दीपक जलाते हो, अंगार-ज्वालादि प्रकाश पड़ता हो अथवा उस स्थान का मालिक कोई काम बताता हो, उस स्थान मे जिनकल्पिक न रहे।

❀ तीसरी पोरसी में भिक्षाचर्या करे। अभिग्रह धारण करे।

❀ भिक्षा अलेपकृत ले, वाल-चने ...... वगैरह।

❀ जिस क्षेत्र में (गांव) रहे, उसके ६ विभाग करे। प्रतिदिन एक-एक विभाग में भिक्षा के लिए जावे। इससे आधाकर्मी दोष वगैरह नहीं लगते।

❀ एक वसति में अधिक से अधिक सात जिनकल्पिक रहें। परन्तु परस्पर संभाषण न करे। एक दूसरे की भिक्षा की गली का त्याग करे।

❀ जिनकल्प स्वीकार करने वाले का जन्म कर्मभूमि में होना चाहिये। देवादि द्वारा संहरण होने पर अकर्मभूमि मे भी हो सकता है।

❀ अवसर्पिणी में तीसरे-चौथे आरे में जन्मा हो।

❀ सामायिक-छेदोपस्थापनीय चारित्र मे रहा हुआ मुनि जिनकल्प स्वीकार कर सकता है।

❀ महाविदेह क्षेत्र में सामायिक-चारित्र मे रहा हुआ स्वीकार करता है।

❀ परमात्मा धर्मतीर्थ की स्थापना करें, उसके बाद में ही जिनकल्प स्वीकार करे।

❀ जिनकल्प स्वीकार करते समय कम से कम उम्र २९ वर्ष को होनी चाहिये। साधुपने का पर्याय कम से कम २० वर्ष का होना चाहिये। उत्कृष्टकाल देशोनपूर्वकोटी।

❀ नया श्रुताभ्यास नही करे । पूर्वोपार्जित श्रुतज्ञान का एकाग्र मन से स्मरण करे ।

❀ जिनकल्प पुरुष ही स्वीकार कर सकता है । अथवा कृत्रिम नपुंसक लिंगी भी स्वीकार कर सकता है ।

❀ जिनकल्पी का वेश जिनकल्प स्वीकार करते समय साधुता का हो। भाव भी साधु के हो। पीछे से बाह्यवेश चोरादि द्वारा ले लिया जाय तो नग्न रहे ।

❀ जिनकल्प स्वीकारते समय तेजो-पद्म-शुक्ल तीन शुभ लेश्या हो । पीछे से छओ लेश्याए हो सकती हैं। परन्तु कृष्ण-नील-कापोत लेश्या अति संक्लिष्ट नही होती और उसमे अधिक समय नही रहती ।

❀ जिनकल्प स्वीकारते हुए प्रवर्द्धमान धर्मध्यान नही होता। पीछे से आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान भी हो सकता है, कर्म की विचित्रता से। परन्तु शुभ भावो की प्रबलता होने से आर्त्त-रौद्रध्यान के अनुबंध प्राय नही पडते ।

❀ एक समय मे जिनकल्प स्वीकारने वाले अधिक मे अधिक दो सौ से नौ सौ हो सकते हैं ।

❀ जिनकल्पियो की उत्कृष्ट संख्या दो हजार से नौ हजार तक हो सकती है ।

❀ अल्पकालिक अभिग्रह जिनकल्पी को नहीं होते । 'जिनकल्प' यही जिन्दगी का महान अभिग्रह है ।

❀ जिनकल्पी किसी को दीक्षा नहीं देता है। अगर उन्हे ज्ञान मे दिखाई पडे कि 'यह दीक्षा लेने वाला है' तो उपदेश दे और संविग्न गीतार्थ साधुओ के पास भेज देवे ।

❀ मन से भी अगर सूक्ष्म अतिचार लग जाय तो प्रायश्चित्त १२० उपवास का आता है।

❀ ऐसा कोई कारण नहीं जिससे अपवादपद का सेवन करना पडता हो।

❀ आंख का मल भी दूर नहीं करे। चिकित्सादि नहीं करावे।

❀ तीसरी पोरसी में आहार-विहार करे। शेषकाल में कायोत्सर्ग ध्यान में रहे।

❀ जघाबल क्षीण हो जाय, विहार न कर सके तो भी एक क्षेत्र में रहते हुए कोई दोष न लगने देवे, और अपने कल्प का अनुपालन करे।

स्थविरकल्पी मुनि पुष्टालब से अपवाद-मार्ग का भी आसेवन करे। स्थविरकल्पी मुनि गुरुकुलवास में रहे और गच्छवास की मर्यादाओं का पालन करे।

प्रथम भाग सम्पूर्ण

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन का साहित्य

हिन्दी

१	मनका धन	२५ पैसा
२	जीवन संग्राम	,,
३	कर्म-कामलत्ता	,,
४	गुण वैभव	,
५	आत्ममंगल	,,
६	जीवन कला	,,
७	बारह व्रत	,,
८	चित्त प्रसन्नता	,,
९,	नवपद भावना	,,
१३	अन्तरनाद	५० पैसा
१४	चित्त प्रसन्नता	,
१५,	तीर्थयात्रा	,, ,,
१६,	रसगंगा	,, ,,
१७	मननु धन	५० पैसे
१८	भावनामृत	,, ,,
१९	मंगलदृष्टि	,, ,,
२०	प्रार्थना	,, ,,
२१	बाळकोनी सुवास	,, ,,
२२	बाळकोनु जीवन	,, ,,
२३	बाळकोनु चिंतन	,, ,

गुजराती

१	लक्षापति	३ रुपया
२	अर्चना	३ ,
३	अयोध्यापति	३ ,
४	वनवास	३ ,,
५	ज्ञानसार-१-२-३	५ ,,
६	भावना फेरा	१ ,,
७	जयशत्रुंजय	१ ,,
८	नमस्कार गीतगंगा	१ ,,
९	प्रियवार्ताओ	१ ,
१०	आत्म मंगल	५० पैसा
११	जीवन वैभव	१ रुपया
१२	आलोचना	१ ,

अंग्रेजी

1 The Treasure of mind 1R

पंचवर्षीय योजना

प्रथम वर्ष की किताबें (२०२१

(१) ज्ञानसार (१ से १६ प्रकरण
[प्रथम भाग] ३-५
पक्का जिल्द, द्विरंगी चित्र ३५० पृ

(२) वासना और भावना (प्रवच
द्विरंगी चित्र, ८० पृष्ठ १-

(३) तीन तारे (प्रवचन) १-
द्विरंगी चित्र, १०० पृष्ठ

संस्था के मुख्य कार्यालय

(१) श्री विश्वकल्याण प्रकाशन
मानद मन्त्री : जयकुमार वी. परीख
महाराज की खिड़की, महेसाना [गुजरात]

(२) श्री विश्वकल्याण प्रकाशन
मानद मंत्री : शांतिलाल एस. दोशी
हारीज [उ. गुजरात]

(३) श्री विश्वकल्याण प्रकाशन
मानद मंत्री हीराचन्द वैद
पारसमल कटारिया
आत्मानन्द सभा भवन
घी वालो का रास्ता, जयपुर (राजस्थान)

निम्न स्थानों से भी संस्था की किताबें प्राप्त होंगी

सरस्वती पुस्तक भण्डार
हाथीखाना, रतनपोल
अहमदाबाद (गुजरात)

सोमचन्द डी. शाह
जीवन निवास सामने
पालिताना (सौराष्ट्र)

सेवंतीलाल वी. जैन
झवेरीबाजार, महाजन गली
पहले माले, रूम न० २०
बम्बई–२

हीरालाल नाथालाल शाह
जैन देरासर पेढ़ी
शंखेश्वरजी (गुजरात)